इलेक्शन गाथा

ऋषभदेव शर्मा

इलेक्शन गाथा

(लेख/पत्रकारिता)

(C) ऋषभदेव शर्मा

2019

इलेक्शन गाथा

भारत में चुनाव कैसे जीते जाते हैं? भारत का प्रजातंत्र कैसे आगे बढ़ रहा है और कौन इसे पीछे धकेल रहा है? क्या यहाँ जुगाड़ काम करता है ? ऐसे बहुत से सवाल आपके मन में इस चुनाव को लेकर भी उठते होंगे। हम भारतवासियों की रग रग में इलेक्शन समाया हुआ है क्योंकि हम इसे प्रजातंत्र से साक्षात्कार का आसान तरीका समझते हैं।

पान की दुकान से लेकर प्राइम टाइम के दंगल तक जब आपको कोई ठीक-ठिकाने की बात सीधी तरह से न समझा पाए तो आप इस 'इलेक्शन गाथा' के पाठ द्वारा राहत पा सकते हैं। यहाँ आपके लिए आपकी भाषा में कुछ अनसुलझे समीकरणों का सुलझाव है; और है इस महाप्रपंच का रोजनामचा जिसे बीते एक वर्ष के दौरान लिखा गया है। हमारे चुनावी माहौल में बहुत कुछ उल्टा-सीधा होता है और इसे सीधा करके दिखाने का काम इन संपादकीयों के द्वारा किया गया है। यह "अपूर्ण" है, क्योंकि इसे आपके पाठ और अन्भवी कमेंट की दरकार है। आप ही इसे पूर्ण कर सकते हैं।

डॉ. ऋषभदेव शर्मा (1957) पिछले कई वर्षों से भारतीय चुनावों, राजनीति और ज्वलंत सामाजिक- आर्थिक मुद्दों पर पक्षपात रहित होकर प्रामाणिकता से लिखने के कारण देश के चर्चित चिंतकों में भी गिने जाने लगे हैं। हिंदी कविता में तेवरी काव्यान्दोलन के पुरोधा कवि और हिंदी भाषा तथा साहित्य के मर्मी विद्वान प्रोफेसर एवं लेखक तो हैं ही।

छोटे मुँह बड़ी बात है फिर भी कहे देते हैं कि इन टु द पॉइंट, सरल और निष्पक्ष –िनरपेक्ष दो-दो पेजी चुटीली और कभी चुभीली टिप्पणियों में मिस्सी रोटी सा स्वाद है और तासीर भी गज़ब की है । आपका पढ़ना इस लेखन को गुड़ सा गुणकारी भी बना देगा, इसी विश्वास और आशा के साथ प्रस्तुत है – 'इलेक्शन गाथा'। हैप्पी रीडिंग !

- गोपाल शर्मा अरबा मींच विश्वविद्यालय इथियोपिया

वोट 'न' देने का अधिकार

जैसे-जैसे चुनाव की वास्तिवक तिथि नजदीक आती जाती है, यह सवाल प्रखर होता जाता है कि अंततः इतने बड़े लोकतंत्र में कितने प्रतिशत मतदाता अपने मताधिकार का प्रयोग करेंगे, वोट डालेंगे। नागरिकों की मतदान के प्रति अरुचि और उदासीनता से चिंतित प्रधानमंत्री से लेकर छोटे से छोटे राजनीतिक कार्यकर्ता तक सभी अपने-अपने स्तर पर मतदाताओं को यह समझाने की कोशिश करते नजर आ रहे हैं कि वोट डालने के अपने लोकतांत्रिक अधिकार का प्रयोग अवश्य करें। इन कोशिशों के बीच हर बार की तरह यह विषय भी चर्चा में होना स्वाभाविक ही है कि क्यों न मतदान को अनिवार्य बना दिया जाए। वोट के अधिकार की सार्थकता तभी तो है न जब वोट डाला जाए? अत्यंत उत्साह से भरे कुछ 'विचारक' तो यहाँ तक कहते पाए जाते हैं कि जो लोग वोट न डालें, उनकी पहचान करके उन्हें दंडित किया जाना चाहिए।

लेकिन, अगर मतदाता को पोलिंग ब्र्थ तक लाने के लिए 'लोभ' और 'भय' का उपयोग करना पड़े, या वोट डालने के लिए लोगों को डंडे से ठेल कर लाना पड़े; तो क्या यह कृत्य लोकतांत्रिक होगा? मतदान की बाध्यता और मतदान न करने पर दंड दिए जाने की बातें करने वाले बड़बोले विचारक पहले यह व्यवस्था तो करें कि जिसके पास मतदाता-परिचय-पत्र (इलेक्टोरल आईडेंटिटी कार्ड) है, उसका नाम मतदाता सूची में अनिवार्यत: हो! जो तंत्र ऐसे जायज नागरिकों के नाम तक सूची उसे उड़ा देता है, उसे दंडित करने की कोई व्यवस्था है क्या? अगर नहीं है तो क्यों नहीं? हर बार खबरें आती है कि कहीं किसी समुदाय विशेष तो कहीं किसी स्थान विशेष के मतदाता, सूची में अपना नाम ही खोजते रह गए! कई बार तो नामी-गिरामी हस्तियों के नाम नदारद होने की घटनाएँ सामने आई हैं। ऐसे में इलेक्टोरल कार्ड क्या अवैध हो जाता है? क्यों नहीं प्रत्येक कार्डधारी को मतदान की सुविधा होनी चाहिए? इस विसंगति को देखते हुए भी यह ज़िद करना कि मतदान बाध्यकारी हो, हास्यास्पद ही कहा जा सकता है।

देश के प्रत्येक वयस्क नागरिक को मताधिकार प्राप्त है और उसे इसका प्रयोग भी करना चाहिए। यहाँ तक तो ठीक है। लेकिन अगर कोई देश किसी चुनाव में वोट डालने अथवा न डालने को देशभिक्त अथवा देशद्रोह का प्रतीक मानने लगे, तो समझना चाहिए कि वह देश लोकतंत्र की अपेक्षा तानाशाही की दिशा में अग्रसर है। इसीलिए मतदान को बाध्यकारी बनाने की तुलना में अधिक उचित है- लोगों को इसके प्रति शिक्षित करना और जागरूक बनाना। मतदान का प्रतिशत कम होने पर क्या उन प्रत्याशियों और दलों को दंडित नहीं किया जा सकता जो अपने नागरिकों में इतना उत्साह तक नहीं भर पाए कि वे सहजता से, बिना किसी लालच और डर के, वोट डालने के लिए प्रस्तुत हो सकें? शायद यह व्यावहारिक नहीं होगा।

लेकिन, 'वोट देने के अधिकार' का लोकतंत्र में एक अर्थ 'वोट न देने का अधिकार' भी होता है। प्रायः पंचायतों से लेकर संसद तक में यह देखा जाता है कि तमाम लंबी-लंबी बहसों में शामिल होने के बावजूद कोई सदस्य या समूह या दल वास्तविक मत विभाजन के समय या तो अनुपस्थित हो जाता है या बहिष्कार अथवा बहिर्गमन तक का रास्ता चुन लेता है। सदन में उपस्थित रहते हुए भी किसी सदस्य को वोट 'न' देने से रोका नहीं जा सकता। 'वोट न देने का अधिकार' पूरी तरह लोकतांत्रिक अधिकार है। किसी को 'दिए गए विकल्पों' में से ही एक को चुनने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। 'अनुपस्थित' रहने का अर्थ यह माना जाना चाहिए कि उस मतदाता को 'दिए गए विकल्पों' में

से कोई भी अपनी रुचि के अनुकूल अथवा चुनने योग्य नहीं लगा। लगता तो वह उसे वोट देने के लिए यथासंभव अवश्य आता। अतः अनुपस्थित वोटों को 'नोटा' (उपर्युक्त में कोई नहीं) में जोड़े जाने की संभावना पर भी विचार अपेक्षित है। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 02/04/2019)

चुनावी हवाएँ और दक्षिण का मौसम

लोकसभा चुनाव-2019 की तमाम गहमागहमी के बीच उत्तर की गरम हवाएँ दक्षिण के तापमान को भी खूब बढ़ा रही हैं। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और कांग्रेस के अध्यक्ष राहुल गांधी दोनों को ही पता है कि दिल्ली की राजगद्दी मिलने पर भी तब तक किसी को देश का सर्वमान्य नेता नहीं समझा जाता, जब तक वह दक्षिण का दिल न जीते। इसलिए दोनों की पार्टियाँ इसके लिए सब तरह के प्रयासों में लगी दिखाई देती हैं। यह भी गौरतलब है कि दक्षिण के पाँच राज्यों तेलंगाना,आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल, तमिलनाडु और केंद्रशासित प्रदेश पुदुचेरी में कुल मिलाकर 120 लोकसभा सीटें हैं। ये उत्तर प्रदेश की 80 सीटों की तुलना में डेढ़गुनी हैं। अर्थात, दिल्ली की सरकार बनाने में जितना महत्व उत्तर प्रदेश की सीटों का है, उससे बहुत अधिक असर दिक्षण की सीटों का हो सकता है।

वैसे दक्षिण भारत की वर्तमान स्थिति यह है कि अब यहाँ एनटीआर, राजकुमार, एमजीआर, जयलिता और करुणानिधि जैसे चमत्कारी और चुंबकीय व्यक्तित्व वाले दिग्गज नहीं रहे। चंद्रबाबू नायडू और एचडी देवेगौड़ा अखिल भारतीय रंगमंच पर उभरते दिखे तो जरूर, लेकिन वर्तमान में दोनों ही काफी कमजोर पड़ गए हैं। के चंद्रशेखर राव जरूर एक ऐसे नेता के रूप में उपस्थित हैं, जिनकी पतंग फिलहाल काफी ऊँची उड़ रही है।

इस सत्य को नहीं भुलाया जा सकता कि दक्षिण में कांग्रेस अब पहले जैसी लाभ की स्थिति में नहीं है और भाजपा तो कर्नाटक के अलावा अन्य सभी स्थानों पर लगभग है ही नहीं। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी इन राज्यों के मतदाता को लुभाने के लिए नई-नई परियोजनाओं के सहारे अपनी पार्टी के पक्ष में वातावरण बनाने की पूरी कोशिश करते रहे हैं। गत दिनों तमिलनाडु में कांग्रेस और कम्युनिस्टों पर एकसाथ निशाना साधा। वहाँ उनकी पार्टी एआईएडीएमके से सीटों का तालमेल कर ही चुकी है।

कर्नाटक में यह देखना रोचक होगा कि भाजपा को सत्ता से दूर रखने के लिए परस्पर अप्रिय प्रतीत होने वाले गठबंधन के साथी अर्थात जेडीएस और कांग्रेस लोकसभा चुनाव में भाजपा को किस सीमा तक तंग कर पाते हैं। उन्हें मालूम है कि अगर चुनाव परिणाम उनके खिलाफ गए तो राज्य में भी उनकी सत्ता का गणित खतरे में पड़ जाएगा।

केरल में पिछले दिनों उठे शबरीमले मंदिर के बवाल का राजनैतिक लाभ लेने की कोशिश भाजपा और कांग्रेस दोनों ही ने बड़ी बेशर्मी से की। अब देखना यह होगा कि वहाँ की जनता उनके इस 'चिलतर' पर किस प्रकार की प्रतिक्रिया प्रकट करती है। भाजपा अपने कार्यकर्ताओं के प्रति के दमन की चर्चा करके तथा कम्युनिस्ट पार्टी को सांस्कृतिक मसलों के प्रति असंवेदनशील दिखाकर जनता को लुभाने की कोशिश करेगी ही।

आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चंद्रबाबू नायडू ने चुनावों की घोषणा से पहले अपनी पार्टी को भाजपा से अलग करके बड़ा दाँव खेला था। उन्होंने कांग्रेस को साथ लेकर भाजपा विरोधी महागठबंधन के नेतृत्व का भी सपना देखा था। लेकिन अब स्थिति यह है कि चुनाव में कांग्रेस और तेदेपा अलग-अलग पाले में है तथा वाईएसआर कांग्रेस के जगन मोहन रेड्डी तेदेपा को बढ़िया टक्कर दे सकते हैं। अतः अब चंद्रबाबू नायडू की पहली चिंता राज्य में अपने अस्तित्व को बचाने की है।

तेलंगाना के मुख्यमंत्री के. चंद्रशेखर राव ने राजनीतिक परिपक्वता का प्रदर्शन करते हुए तेलंगाना में विधानसभा चुनाव समय से पहले कराकर राज्य की सत्ता पर अपनी पकड़ बना ली है। दिल्ली दरबार को फतह करने की उनकी महत्वाकांक्षा भी किसी से छिपी नहीं है। गौरतलब है कि वे कांग्रेस और भाजपा दोनों से बराबर की दूरी बनाकर चल रहे हैं। लेकिन कटुता से भी बच रहे हैं। जानकारों का मानना है कि लोकसभा में किसी पार्टी को स्पष्ट बहुमत न मिल पाने की स्थिति में वे किसी भी ओर जा सकते हैं तथा किंगमेकर बन सकते हैं।

आगे-आगे देखिए होता है क्या! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 01/04/2019)

चुनाव की बलिवेदी पर मिशन शक्ति

राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय सुरक्षा दूसरे सारे सवालों को धुँधलाते हुए चुनाव के आकाश में चमचमाते रहें, इसका पुख्ता इंतजाम करने के लिए बालाकोट के सैन्य अभियान के बाद अब उपग्रहभेदी शक्ति का वैज्ञानिक अभियान, अपने 'समय' के लिहाज से भले ही राजनैतिक प्रतीत हो, अंतरिक्ष में भारत की ऊँची छलांग है। इस महान उपलब्धि के लिए रक्षा अनुसंधान में लगे अंतरिक्ष वैज्ञानिकों का जितना अभिनंदन किया जाए, कम है!

जिस चरम गोपनीयता के साथ इस परम संवेदनशील अभियान को सफलतापूर्वक संपन्न किया गया, उससे पूरा विश्व एक बार फिर उसी प्रकार स्तंभित रह गया होगा, जिस प्रकार पोखरण विस्फोट के समय। इस अनन्य और अतुल्य उपलब्धि के लिए भारत की अप्रतिम वैज्ञानिक मेधा के साथ ही नेतृत्व की इच्छाशक्ति भी प्रणम्य है। रही बात इसके सियासी पहलू की, तो श्रेय लेने के लिए खींचतान अप्रत्याशित नहीं है। आचार संहिता के प्रकाश में इसके उचित-अनुचित होने की चर्चा को चुनाव आयोग के लिए सुरक्षित रहने देते हुए भी यह तो कहा ही जा सकता है कि किसी भी सफलता के श्रेय का प्रथम भागीदार तो समकालीन नेतृत्व ही होता है। इसलिए न्यूनतम आय गारंटी वाली कांग्रेस की न्याय योजना की संभव-असंभव की तमाम बहस को कुछ देर के लिए ही सही स्थिगत कर सकने वाले 'मिशन शक्ति' से भाजपा को बहुत बड़ी शक्ति मिली है। देखना होगा कि किसानों, बेरोजगारों और मध्यवर्ग की समस्याओं से जुड़े मुद्दों को यह महामुद्दा क्या चुनाव के दिन तक स्थिगत रख सकेगा!

डीआरडीओ के तत्कालीन प्रमुख के वक्तव्य का उल्लेख करते हुए यह कहा जा रहा है कि उपग्रहभेदी इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए देश 2012 में ही सक्षम हो चुका था। सतापक्ष और विपक्ष दोनों ही इस तथ्य की अपने-अपने ढंग से व्याख्या करने के लिए आजाद हैं। सेहरा अपने माथे बाँधने को उतावली भाजपा अपने नेतृत्व की संकल्प-शक्ति की तो चर्चा कर ही रही है। साथ ही यह भी याद दिलाने में वह नहीं चूकेगी कि इस अभियान को बीच-राह रोके रखकर पिछली सरकार ने भारत के अंतरिक्ष मार्ग को असुरक्षित छोड़ रखा था। दूसरी ओर कांग्रेस यह कहकर अपने सिर सेहरा सजाना चाहेगी कि 'मिशन शक्ति' सहित देश की अब तक की तमाम वैज्ञानिक प्रगति केवल प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरु की देन है। अगर उन्होंने अंतरिक्ष अनुसंधान शुरू ही नहीं किया होता तो? इसका अर्थ यह है कि आम चुनाव के मौके पर घटित होने के कारण देश के वैज्ञानिकों की एक अप्रतिम उपलब्धि राजनीति की बिलवेदी पर चढ़ने को अभिशप्त है!

इस उपलब्धि से चुनावी राजनीति के साथ ही अंतरराष्ट्रीय राजनीति में भी काफी खलबली मच सकती है। अब भारत ने भी अंतरिक्ष में उड़ती चिड़िया के पर कैंचने की अमेरिका, रूस और चीन जैसी क्षमता प्रदर्शित कर दी है तो विश्व में शक्ति-संतुलन के नए समीकरण उभरेंगे ही। भारत को अंतरिक्ष के शस्त्रीकरण की होड़ के हवाले से हड़काया भी जाएगा ही। चीन को अब भी भारत की तुलना में इससे अधिक महारत हासिल है, फिर भी वही शायद सबसे अधिक शोर करेगा क्योंकि इससे उसके अहम को ठेस पहुँची होगी। पाकिस्तान का विचलित होना भी स्वाभाविक है, क्योंकि अंतरिक्ष अभियानों के क्षेत्र में वह अभी बहुत पीछे है। इन्हीं परिणामों के मद्दे-नजर भारत ने स्पष्ट किया है कि उपग्रहभेदी मारक-क्षमता अर्जित करने का हमारा उद्देश्य न तो कोई अंतरिक्ष युद्ध छेड़ना है और न ही शस्त्रीकरण

की होड़ को बढ़ाना। हमारा प्राथमिक उद्देश्य अंतरिक्ष में अपने हितों की रक्षा करना है, क्योंकि हम अपने उपग्रहों को दूसरी शक्तियों की दया पर नहीं छोड़ सकते।

अंततः यही कि अंतरिक्ष युद्ध टलता रहे, इसी में धरती की भलाई है; और इसके लिए भारत जैसे महादेश का 'शक्ति' संपन्न होना लाजमी है! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 29/03/2019)

कहाँ से आएगी न्यूनतम आमदनी?

कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी ने लोकसभा चुनाव में अगर मतदाता को लुभाने के लिए न्यूनतम आय गारंटी का चारा फेंका है, तो इसमें चौंकने वाली कोई बात नहीं। उन्होंने अपना यह इरादा कई महीने पहले ही उजागर कर दिया था। छत्तीसगढ़ के विधानसभा चुनाव के समय से वे इस योजना की बात करते आ रहे हैं। दूसरी ओर, अगर वित्तमंत्री अरुण जेटली को इस आश्वासन में राजनीति दिखाई दे रही है और वे इसे गरीब तथा गरीबी हटाने के नाम पर व्यवसाय करना बता रहे हैं, तो इसमें भी कोई नई बात नहीं है। वे भी अपना राजनीतिक फर्ज अदा कर रहे हैं। वैसे फिलहाल जरूरत इस बात की है कि इस योजना पर दलगत राजनीति से ऊपर उठकर कुछ विचार-विमर्श किया जाए।

वितमंत्री भले ही कहते रहा करें कि कांग्रेस आज जो वादा कर रही है, उसे तो भाजपा पहले ही पूरा कर चुकी है; इसे नकारा नहीं जा सकता कि देश में अमीर-गरीब के बीच की खाई लगातार बढ़ी है, बढ़ रही है। कांग्रेस और भाजपा दोनों ही अपने-अपने कार्यकाल में गरीबी-उन्मूलन के लिए जो भी योजनाएँ लेकर आईं, वे ऊँट के मुँह में जीरा भर सिद्ध हुई। मनरेगा और प्रधानमंत्री किसान योजना अच्छे कार्यक्रम रहे। लेकिन अपर्याप्त रहे। जनसंख्या बढ़ने के साथ बेरोजगारी भी बढ़ती गई। शिक्षा का महत्व रोजगार की दृष्टि से शून्य होता गया। राहुल गांधी और अरुण जेटली दोनों को ही शायद यह पता हो कि अभी जारी रेलवे के आँकड़ों के अनुसार, खलासी और हेल्पर के 62,907 पदों के लिए आवेदन करने वालों में 4,19,137 के पास बीटेक और 40,751 के पास इंजीनियरिंग में मास्टर्स डिग्री है। इसी तरह 1.27 लाख एमएससी और 3.83 लाख एमए डिग्रीधारी इनमें शामिल हैं। क्या यह कारुणिक दृश्य भारत में गुणवतापूर्ण रोजगार की कमी का प्रमाण नहीं है? ऐसा प्रतीत होता है कि कांग्रेस की न्यूनतम आय गारंटी योजना के पीछे केवल किसानों और मजदूरों को ही नहीं, शिक्षित बेरोजगारों की इस बड़ी जनसंख्या को भी आकर्षित करने की चतुराई निहित है। इन्हें अगर ₹ 6,000 मासिक आय की गारंटी मिले, तो यह इनके लिए प्राणरक्षक वायु सिद्ध होगी। मानना होगा कि इस आश्वासन द्वारा कांग्रेस उस किशोर और युवा मतदाता को प्रभावित करना चाहती है, जो पढ़-लिखकर भी या तो बेरोजगार है या योग्यता से कम रोजगार के लिए मजबूर। ऐसे हताश युवकों को इस योजना में आशा की किरण दिखाई देगी ही। वित मंत्री की चिंता का कारण भी यही है क्योंकि उन्हें पता है कि यह नया मतदाता फिलहाल उनकी पार्टी से कृछ खास संतृष्ट नहीं है।

वैसे एक सरकारी रिपोर्ट के अनुसार भारत के अलग-अलग प्रांतों की अलग-अलग परिस्थितियों के हिसाब से न्यूनतम आय 9 से 12 हजार होनी चाहिए। इस लिहाज से राहुल गांधी के 6,000 काफी कम हैं तथा प्रधानमंत्री के साल भर में 3 किस्तों में दिए जाने वाले 6,000 तो बहुत ही कम। हालांकि अभी तक ऐसा कहा नहीं गया है, लेकिन अगर इस राशि का इंतजाम करने के लिए पहले से दी गई सुविधाओं को समाप्त किया जाना है, तो परिणाम ढाक के वही तीन पात ही रहेगा। अतः राहुल गांधी को यह भी स्पष्ट करना चाहिए कि- '5 करोड़ लक्ष्य परिवारों के लिए इतनी राशि की व्यवस्था किसकी जेब से की जाएगी?'

अंततः यह भी ध्यान देने की बात है कि जिस योजना को राहुल गांधी 'न्यूनतम आय गारंटी' बता रहे हैं, वास्तव में वह 'न्यूनतम आय के लिए सहारा' देने की योजना है। न्यूनतम आय अर्थात ₹6000 महीने में जितनी कमी होगी,

उतनी भरपाई सरकार करेगी। अच्छा है। पर प्रश्न वही गले में अटका है कि-यह भरपाई की कहाँ से जाएगी? फिलहाल इस योजना के जनक इस प्रश्न पर मौन हैं! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 27/03/2019)

मोदी और राह्ल पर फिल्मों का 'समय'

कई वर्तमान और निवर्तमान राजनेताओं के जीवन पर आधारित फिल्में (बायो पिक) आने वाली हैं। यों तो हर शुक्रवार नई फिल्में आती ही रहती हैं। गुजरे दिनों महात्मा गांधी, सरदार पटेल और सुभाष चंद्र बोस जैसे दिवंगत नेताओं से लेकर पूर्व प्रधानमंत्री सरदार मनमोहन सिंह तक की जीवनी पर आधारित फिल्में आ चुकी हैं। यही नहीं, मनमोहन सिंह पर केंद्रित फिल्म अपने दृष्टिकोण के कारण काफी चर्चा (या कहें कि विवाद) में भी रही। इसलिए अगर अब और कुछ जीवनीपरक फिल्में आ रही हैं, तो इसमें कोई नई बात नहीं है। अपने नेताओं से प्रेरणा लेने और उनके समय तथा संघर्ष को समझने के लिहाज से भी इन फिल्मों का स्वागत होना चाहिए। उनकी समीक्षा भी अन्य जीवनिपरक सिनेमा कृतियों की तरह ही की जानी चाहिए। लेकिन इन्हें बाजार में उतारे जाने के समय को लेकर कुछ लोगों के मन में जो खटका लगा है वह भी निराधार नहीं है। उन्हें लगता है कि ऐसे समय में जबिक लोकसभा चुनाव-2019 की विधिवत घोषणा हो चुकी है तथा सारे देश में आदर्श आचार संहिता लागू है, इन चुनावों में सिक्रय नेताओं के जीवन को महिमामंडित करने वाली या चुनाव में शामिल राजनैतिक पार्टियों की प्रशंसा अथवा आलोचना करने वाली फिल्मों का प्रदर्शन सीधे चुनाव के दौरान मतदाताओं को प्रभावित कर सकता है। इसलिए क्या चुनाव प्रक्रिया के दौरान इन जीवनी परक फिल्मों को बाजार में उतारा जाना उचित है, या फिर इन पर रोक लगा देनी चाहिए?

इसमें संदेह नहीं कि वर्तमान प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी तथा विपक्षी पार्टी कांग्रेस के अध्यक्ष राहुल गांधी के जीवन पर आधारित फिल्में किसी न किसी हद तक मतदाता को प्रभावित करेंगी ही। उन पर चर्चा और बहस भी खूब होगी ही। लेकिन केवल इस आधार पर उनके इस समय प्रदर्शन पर आपित का कोई औचित्य नहीं। इस सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता कि फिल्म एक व्यवसाय है और उसकी नजर बाजार पर रहती है। यहाँ तक कि हर हफ्ते प्रदर्शित होने वाली फिल्मों का समय यह ध्यान में रखकर भी तय किया जाता है कि उस दौरान कौन सा पर्व या त्योहार पड़ रहा है, कौन सी छुट्टी आ रही है। इस लिहाज से राजनीतिक हस्तियों पर केंद्रित फिल्मों के प्रदर्शन के लिए चुनावी मौसम ही सबसे उचित समय है। बाजार अर्थात आर्थिक हानि-लाभ, उद्योग के रूप में फिल्म निर्माताओं की पहली चिंता है। अतः इस समय का निर्धारण सोच-समझकर किया गया लगता है। इसमें कोई ब्राई भी नहीं।

लेकिन व्यावसायिक हानि-लाभ की तुलना में यहाँ राजनीतिक हानि-लाभ को भी कुछ कम ध्यान में नहीं रखा गया है। शायद इसीलिए कांग्रेस की पूरी कोशिश है कि नरेंद्र मोदी की बायोपिक आने से पहले ही उन्हें बालाकोट-हमले के बहाने 'विलेन' बना डाले। तमाम बड़बोले नेता और प्रवक्ता यह सिद्ध करने में लगे हैं कि इतना बड़ा हमला होने की सूचना पाकर भी नरेंद्र मोदी अगर 'शूटिंग' में व्यस्त रहे, तो भला वे 'हीरो' कैसे हो सकते हैं। फिल्म से पहले यह हाल है तो फिल्म आने पर क्या हाय-तौबा बचेगी, इसे समझा जा सकता है। राहुल गांधी की बायोपिक आएगी तो दोनों ही पक्ष अपने-अपने ढंग से उसका भी राजनैतिक लाभ लेने में पीछे नहीं रहेंगे।

इन स्थितियों और संभावनाओं के बीच क्या इन फिल्मों को चुनाव समाप्त होने तक टाल दिया जाना चाहिए? नहीं। वैसा करना न तो आवश्यक है, न उचित, न नैतिक। किसी फिल्म को राजनैतिक होने भर से रोकना या टालना किसी भी प्रकार लोकतांत्रिक नहीं। इसलिए ऐसे चलन से बचा जाना चाहिए। वरना भविष्य में सरकारें इस 'प्रथा' का बहाना लेकर विरोधी विचारों को कुचलने में देरी नहीं करेंगी। हाँ,अगर किसी बायोपिक का निर्माण कोई राजनीतिक पार्टी अपनी जेब से करती है, तो इसे प्रचार-सामग्री मानकर उसके चुनाव खर्च में जोड़ा जाना चाहिए। शेष, चुनाव आयोग के विवेक पर! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 27/03/2019)

जनसेवकों के भण्टाचार पर अंकुश के वास्ते

आखिर, देश को पहला लोकपाल मिल ही गया! उम्मीद है, इससे जनसेवकों के भ्रष्टाचार पर अंकुश लग सकेगा। फरवरी 2019 के पहले सप्ताह में अन्ना हजारे के अनशन और उन्हें नितिन गडकरी के माध्यम से केंद्र सरकार के आश्वासन के बाद यह साफ हो गया था कि आम चुनाव से पहले कभी भी लोकपाल के नाम की घोषणा हो सकती है। हो गई। लोकपाल पद पर सेवानिवृत जज न्यायमूर्ति पिनाकी चंद्र घोष की इस नियुक्ति को सरकार का सोचा समझा पैंतरा कहा जा सकता है। विपक्ष को यह लगना स्वाभाविक है कि जब अगली लोकसभा अर्थात नई सरकार के लिए चुनाव प्रक्रिया आरंभ हो चुकी है, तो इस नियुक्ति का कोई औचित्य नहीं। देश थोड़ी और प्रतीक्षा कर सकता था। इसीलिए कांग्रेस के मल्लिकार्जुन खड़गे ने चयन समिति से अनुपस्थित रहना ही बेहतर समझा। अब कांग्रेस यह तो जरूर कह सकती है कि मोदी सरकार ने अपनी पसंद के व्यक्ति को बिठा लिया। लेकिन लोकपाल की नियुक्ति न होने को लेकर सरकार को चुनाव में घेरने की उसकी सारी योजना धरी की धरी रह गई। नवनियुक्त लोकपाल पर उँगली उठाने पर अब कोई उसे गंभीरता से नहीं लेने वाला। यही कहा जाएगा कि विपक्ष विरोध के लिए विरोध कर रहा है।

इसकी तुलना में अन्ना हजारे की प्रतिक्रिया अधिक सटीक और सही लगती है। अगर यह कहा जाए कि लोकपाल की नियुक्ति ही उनके देशव्यापी आंदोलन का केंद्रीय मुद्दा रहा है, तो कोई अतिशयोंक्ति नहीं होगी। 2014 से पहले उन्होंने जिस प्रकार आबाल-वृद्ध नर-नारी पूरे राष्ट्र को इस मुद्दे पर संगठित और आंदोलित करके रख दिया था, उस वातावरण से पैदा हुए जन-विक्षोभ की भारतीय जनता पार्टी और नरेंद्र मोदी के दिल्ली दरबार में अभिषेक में बड़ी भूमिका रही थी। यह किसी से छिपा नहीं। अष्टाचार के मुद्दे पर सत्ता में आई मोदी सरकार से उम्मीद तो वैसे यह थी कि वह सत्तासीन होते ही लोकपाल की नियुक्ति को सर्वोच्च प्राथमिकता देगी। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। अब जब उसका कार्यकाल समाप्त हो रहा है, तो इस नियुक्ति को भागते भूत की लँगोटी भी कहा जा सकता है। लेकिन अन्ना हजारे ने इसे सकारात्मक ढंग से स्वीकार किया है। उनकी इस बात में भी शायद दम है कि आंदोलन के नौ साल बाद आज जो कार्रवाई हुई है, यह देश की जनता की जीत है। उन्होंने ठीक ही कहा है कि इस देश की सर्वोच्च व्यवस्था जो है, वह न्याय व्यवस्था है। उन्हें यह भी लगता है कि सुप्रीम कोर्ट के भारी दबाव के बाद ही सरकार को झुकना पड़ा और लोकपाल की नियुक्ति को हरी झंडी दिखानी पड़ी। लेकिन न्यायपालिका के दबाव में सरकार ने ऐसा किया, यह अन्ना हजारे का निजी मत अधिक प्रतीत होता है। ज्यादा सटीक तो शायद यह कहना ही होगा कि विपक्ष से लोकपाल का मुद्दा छीनने के लिए ही अपने कार्यकाल के बीतने की अंतिम वेला में किया गया मोदी सरकार का यह आचरण पूरी तरह सोची समझी चुनावी रणनीति का एक दाँव है। अर्थात, दबाव सुप्रीम कोर्ट की तुलना में लोकतंत्र के महापर्व अर्थात आम चुनाव का अधिक रहा है।

अस्तु। कुछ भी कह लें। इतना तो साफ है कि दीर्घकाल से लंबित और प्रतीक्षित एक अच्छा काम किसी भी कारण सरकार के हाथों संपन्न हो गया है। सत्ताधारी दल चुनाव में इसका लाभ उठाने की पूरी कोशिश करेगा ही। विपक्ष इसमें पाँच साल लगने की बात कहकर आलोचना करेगा और इसकी 'टाइमिंग' को लेकर सरकार की मंशा पर सवाल भी उठाएगा। लेकिन जनता की रुचि इन बातों से आगे अब यह देखने में है कि आने वाले समय में जनसेवकों के भ्रष्टाचार पर इस नई व्यवस्था से वास्तव में कुछ अंकुश लग भी सकेगा कि नहीं! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 22/03/2019)

बड़बोली राजनीति और मुद्दा-मुक्त चुनाव

जैसे-जैसे चुनावी वातावरण गर्मी पकड़ता जा रहा है, यह साफ होने लगा है कि तमाम बड़बोलेपन के बावजूद लोकतंत्र के इतने बड़े पर्व के केंद्र में ठोस मुद्दों की तुलना में व्यक्तिगत छींटाकशी को अधिक महत्व दिया जाने वाला है। कहने को, एक तरफ विकास और स्थायित्व के दावे दावे हैं तथा दूसरी तरफ भ्रष्टाचार और तानाशाही के आरोप। लेकिन व्यक्तिगत वाग्युद्ध को जिस प्रकार इन सबके ऊपर हावी होने दिया जा रहा है, उससे इन मुद्दों के प्रति पक्ष और विपक्ष दोनों ही के अविश्वास का पता चलता है।

विपक्ष को लगता है कि सत्ता में बैठी हुई पार्टी के प्रति जनता के असंतोष को वह चुनावों में भुना सकता है। लेकिन जानकारों का मानना है कि पिछली शताब्दी के अंत तक लड़े गए चुनावों के केंद्र में भले ही जनता के क्रोध और प्रतिशोध की भावनाएँ महत्वपूर्ण रही हों, इक्कीसवीं शताब्दी में हुए छोटे-बड़े चुनावों के विश्लेषण से तो यही पता चलता है कि वह युग बीत गया। आज का मतदाता सरकारों के कामकाज का मूल्यांकन भी करता है। अगर यह कहा जाए कि भारतीय लोकतंत्र 'भावुकता' के दौर से निकल कर 'समझदारी' के दौर में प्रवेश कर चुका है, तो गलत नहीं होगा।

जब हम 'समझदार मतदाता' की बात करते हैं तो यह उम्मीद जगती है कि अयोध्या विवाद, परिवारवाद, जातिवाद और राष्ट्रवाद के उन्मादी वातावरण के बावजूद, वह आवेश में नहीं बल्कि विवेक से मतदान करेगा। इसमें दो राय नहीं कि इस बार लगभग 60 प्रतिशत मतदाता युवा वर्ग का है। विडंबना यह है कि अब तक जनता के प्रतिनिधियों में अधिकतम 15 प्रतिशत ही युवा हैं। मतदाताओं की नई पीढ़ी और जनप्रतिनिधियों की पुरानी पीढ़ी के बीच बहुत बड़ी खाई है। उम्मीद की जानी चाहिए कि पार्टियाँ इस नए मतदाता को ध्यान में रखकर उसके सामने बेहतर युवा विकल्प प्रस्तुत करेंगी।

इस बार महिलाओं की भूमिका भी बड़ी हद तक निर्णायक रहने वाली है। यहाँ तक कि यह चुनाव महिलाओं का चुनाव सिद्ध हो सकता है। लेकिन यहाँ भी युवा वर्ग जैसी ही दुविधा है। ये महिलाएँ चुनेंगी किसे? देखना होगा कि मतदाता के रूप में इनकी भारी भागीदारी की उम्मीद रखने वाले राजनीतिक दल प्रत्याशी के रूप में आखिर कितनी महिलाओं को मैदान में उतार पाते हैं। सत्ता पक्ष का ध्यान बहुत समय से महिलाओं की तरफ है और इसीलिए खासतौर से ग्रामीण महिलाओं को लुभाने के लिए उसने उज्जवला योजना को जोर-शोर से प्रचारित किया है। परंतु, परंपरागत रूप से यह भी माना जाता है कि वे भारतीय जनता पार्टी की मतदाता नहीं रही हैं। उनकी डांवाडोल मानसिकता का लाभ कांग्रेस और महागठबंधन किस सीमा तक उठा पाते हैं, यह उनके वादों की विश्वसनीयता पर निर्भर करेगा।

समझदार होता हुआ भारतीय मतदाता अब निर्दलीयों की उतनी परवाह नहीं करता दिखाई देता, जितनी पिछली शताब्दी में किया करता था। अर्थ कि, ज्यादा से ज्यादा मुक़ाबले त्रिकोणीय होने की संभावना है। देखना यह होगा कि गठबंधन और कांग्रेस अपने साझा शत्रु को हराने के लिए किस हद तक आपसी समझदारी का प्रदर्शन कर पाते हैं। लोकतंत्र के समझदार होते जाने का एक बड़ा असर इस चुनाव पर यह भी दिखाई देने वाला है कि यह पूरी कवायद राष्ट्रीय स्तर पर होने के बावजूद इसके केंद्र में राष्ट्रीय प्रश्नों की त्लना में क्षेत्रीय प्रश्नों की रहने की बड़ी संभावना है। पिछली

लोकसभा में कम से कम एक तिहाई सीटें क्षेत्रीय दलों को गई थीं। स्वाभाविक है कि इस बार इनकी संख्या और बढ़ेगी। क्षेत्रीय दलों के इस उभार का परिणाम यह होगा कि जो लोग पूरे देश में किसी एक लहर के चलने के सपने देख रहे हैं, उन्हें निराश होना पड़ेगा। राज्य स्तर के नेताओं और क्षेत्रीय मुद्दों का बढ़ता हुआ महत्व नकारा नहीं जा सकेगा।

और अंततः यह कि, स्थानीय गठबंधनों की इन चुनावों में अहम भूमिका रहने वाली है। जहाँ-जहाँ विपक्ष एकजुट होगा, वहाँ-वहाँ काँटे की टक्कर होगी और जहाँ वह बिखरा हुआ होगा, वहाँ सत्ता पक्ष को आसानी होगी। 000 (डेली हिंदी मिलाप, 21/03/2019)

सभी को चाहिए दलित वोट

चुनाव -2019 की तारीखों की घोषणा के साथ ही नए-नए समीकरणों और संबंधों के लिए हर स्तर पर कोशिशें चालू हो गई हैं। सभी दल अपने प्रत्यक्ष और परोक्ष साथियों को पहचानने, रिझाने और साधने में लगे पड़े हैं। किसी से छिपा नहीं है कि दिल्ली दरबार तक पहुँचने का रास्ता आमतौर पर उत्तर प्रदेश से होकर जाता है। उत्तर प्रदेश में दिलत वोट की निर्णायक भूमिका भी जगजाहिर है। इसलिए पिछले कुछ समय से दिलत राजनीति में तेजी से प्रकटे और उमरे नए सितारे चंद्रशेखर आजाद (रावण) से मिलने के लिए कांग्रेस महासचिव प्रियंका गांधी का मेरठ अस्पताल में जा धमकना काफी महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है। भाई और बहन के पारिवारिक संबोधनों में बँधी यह मुलाकात दिलत राजनीति की एकछत्र साम्राजी मायावती को रास नहीं आने वाली। न ही दिलत वोटों को लुभाने के लिए अनेकानेक योजनाओं से लेकर क़ानूनों तक का इंद्रजाल बिछाने वाले प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी इसे हलके में उड़ा सकते हैं।

दिखने में औपचारिक लगने वाला रावण-प्रियंका संवाद यह इशारा करता प्रतीत होता है कि अगर भीम आर्मी और कांग्रेस एक दूसरे का साथ देंगे, तो उत्तर प्रदेश में महागठबंधन की राह कठिन हो सकती है। साथ ही, इन सभी के साझे दुश्मन अर्थात योगी-मोदी की भी मुसीबत बढ़ सकती है। चंद्रशेखर के तेवरों से साफ है कि इस युवा दिलत नेता के लिए योगी सरकार से बदला लेना पहला और सर्वोपिर लक्ष्य है। प्रधानमंत्री मोदी के खिलाफ वाराणसी से चुनाव लड़ने का इरादा जाहिर कर के यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि उसे हाशिए पर रहना मंजूर नहीं। नरेंद्र मोदी को सीधे चुनौती देने का अर्थ होगा चुनाव के दौरान सारे मीडिया तंत्र की रुचि के केंद्र में रहना। कांग्रेस और भीम आर्मी के बीच आपसी समझ और साझेदारी की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। सहारनपुर के पास के एक गाँव में घुसने के लिए योगी सरकार के लगाए सारे अवरोधों को तोड़ने और खेतों-नालों को फाँदते जाने का राहुल गांधी का पराक्रम अब काम आएगा, इसमें शक की गुंजाइश नहीं।

चंद्रशेखर का यह कहना भी राजनैतिक पैंतरेबाजी का अच्छा नमूना है कि समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी को चाहिए कि भीम आर्मी के लिए भी एक सीट उसी तरह छोड़ दें जिस तरह दो सीटें कांग्रेस के लिए छोड़ दीं। इसका अर्थ है कि भीम आर्मी चीफ की इच्छा है कि गठबंधन वाराणसी में अपना कोई प्रत्याशी न उतारे और चंद्रशेखर को नरेंद्र मोदी से सीधे दो-दो हाथ करने दे। या फिर यह काम खुद अखिलेश यादव अथवा मायावती करके दिखाएँ। लेकिन गठबंधन के लिए चंद्रशेखर के हक में ऐसा कोई फैसला लेना आसान नहीं होगा। एक बार को मान भी लिया जाए कि योगी-मोदी को ध्वस्त करने के लिए अखिलेश यादव इस फार्मूले पर राजी हो सकते हैं। लेकिन मायावती भला कैसे दिलत वोट पर अपनी एकछत्र दावेदारी को हाथ से जाने दे सकती हैं? उनके लिए तो चंद्रशेखर उनके अपने वोटों में सेंधमारी को तत्पर प्रतिद्वंद्वी है, जो उन्हें फूटी आँख नहीं सुहाने वाला! इसलिए भीम आर्मी के प्रति कांग्रेस और प्रियंका गांधी की सहानुभूति मायावती के लिए चुनौती का रूप ले सकती है। तेजी से लोकप्रियता अर्जित कर रहे इस 'लड़के' में प्रियंका गांधी को जो आग दिखाई दी है, उससे एक साथ भाजपा और महागठबंधन दोनों के ठिकाने चलाए जा सकते हैं।

कुल मिलाकर, दिलत वोटों को अगर चंद्रशेखर नाम के चुंबक के सहारे ऐसी दिशा में धुवीकृत किया जा सके कि वे बसपा और भाजपा की झोली में न गिर पाएँ, तो यह कांग्रेस के लिए फायदेमंद ही होगा। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 15/03/2019)

गांधी के फेर में मुद्दों के खोने का डर

यों तो केंद्र सरकार को किसी न किसी बहाने कटघरे में ही खड़े रखना लंबे समय से विपक्ष के रूप में कांग्रेस का एकसूत्री कार्यक्रम रहा है। लेकिन चुनाव इसके लिए सबसे अधिक उचित अवसर है। इसीलिए सरकार के पाँच वर्ष के कामों को लेकर सबसे तीखे और सुविधाजनक सवाल उठाने के अभियान के रूप में कांग्रेस ने अपने चुनाव प्रचार को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की अपनी जमीन गुजरात से शुरू किया है। महात्मा गांधी और दांडी यात्रा के संदर्भ से जोड़कर उसे प्रतीकात्मक रूप प्रदान किया गया है। महात्मा गांधी ने अपने समय में अंग्रेज सरकार से सबसे तीखे और असुविधाजनक सवाल पूछे थे। उनके पास सत्य और आचरण की पारदर्शिता का बड़ा बल था। इस कारण देश ही नहीं, दुनिया उनके समर्थन में उठ खड़ी हुई थी। देखना होगा कि उनके स्मरण के साथ चलाए गए चुनाव प्रचार में कांग्रेस किस हद तक सत्य और पारदर्शिता अपना पाती है। ऐसा सोचने का कारण यह है कि इधर के कुछ वर्षों में उसका आचरण प्रमाण रहित आरोपों की जुगाली करने तक सीमित रह गया लगता है। अगर चुनाव प्रचार में भी यही जुगाली चालू रही, तो गांधी की भूमि से शुरू होने के बावजूद उसे विश्वास का वैसा बल शायद ही मिल पाए, जैसा गांधी के एक-एक शब्द को प्राप्त था। वैसे भी गांधी के नाम के दुरुपयोग की अनेक में मिसालों से भारतीय लोकतंत्र का इतिहास पहले ही भरा पड़ा है!

साबरमती आश्रम में महात्मा गांधी को श्रद्धांजिल अर्पित करते हुए चुनाव प्रचार आरंभ करके कांग्रेस यह बताना चाहती है कि वह स्वतंत्रता आंदोलन की विरासत को संभालने वाली इकलौती पार्टी है। इस संदेश का विस्तार यह भी है कि अब उसने देश को मोदी राज्य से भी स्वतंत्र करने का दायित्व अपने कंधों पर ले लिया है। लेकिन विडंबना यह है कि जिस समय नेहरु-गांधी परिवार परिवर्तन के इस संकल्प के लिए अपने समर्पण को दोहरा रहा था, उसी समय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी अपने ब्लॉग के माध्यम से जनता को यह याद दिला रहे थे कि यह कांग्रेस गांधी की कांग्रेस नहीं है तथा महात्मा गांधी तो आजादी के साथ ही उसे भंग करना चाहते थे। वैसे एक तरह यह भी सच है कि वह कांग्रेस तो 1967 में ही शहीद हो गई थी। उसके बाद की कांग्रेस महात्मा गांधी की नहीं, बल्कि इंदिरा गांधी की कांग्रेस है।

लेकिन, शायद इस तरह की बातों से आम जनता को कोई फर्क नहीं पड़ता। कम से कम इतना तो वह जान ही चुकी है कि भारतीय राजनीति में गांधी की उपस्थिति नाम लेने भर के लिए है। जरूरत है प्रतीक से आगे बढ़कर उन प्रश्नों से टकराने की, जिनसे यह देश रूबरू है। कांग्रेस अगर गांधी और गोडसे का नाम लेकर संघ परिवार को घेरने में लगी रहेगी तथा भाजपा अगर गांधी की इच्छा को पूर्ण करने के लिए कांग्रेस को खत्म करने की शब्द-क्रीडा में लगी रहेगी; तो इतना तय है कि चुनाव की सारी बहस असली मुद्दों से भटक जाएगी। अतः, कांग्रेस को सावधान रहकर इस वाग्जाल से बच कर चलना होगा, वरना वह अपने विपक्ष-धर्म से फिसल जाएगी।

कहने का अर्थ यह है कि कांग्रेस कार्य समिति का यह संकल्प ऊपर से बड़ा सुविचारित और आक्रमक लगता है कि 'भाजपा और संघ की फासीवाद और घणा की विचारधारा को पराजित किया जाएगा।' लेकिन इसमें सारी बहस के ज़बानी जमा खर्च तक सीमित हो जाने का खतरा भी निहित है। अगर ऐसा हुआ तो सत्तापक्ष के लिए ही फायदेमंद होगा, क्योंकि इस तरह उसे अपने कामकाज पर आधारित अस्विधाजनक सवालों से बचने की सुविधा मिल जाएगी।000

(डेली हिंदी मिलाप, 14/03/2019)

लोकतंत्र का महाकुंभ

चुनाव आयोग द्वारा आम चुनाव की विधिवत घोषणा के साथ ही अगली लोकसभा के गठन की लोकतांत्रिक प्रक्रिया का श्रीगणेश हो गया है। सात चरणों में संपन्न होने वाले लोकतंत्र के इस महाकुंभ के दौरान भारत की जनता अपने प्रतिनिधियों के चयन हेतु मतदान करेगी, जिसका परिणाम 23 मई को दुनिया के सामने आ जाएगा। सदा आशंकित रहने वालों को इस घोषणा के पहले से ही यह इर सताने लगा था कि राहुकाल में घोषित होने के कारण आम चुनाव पर युद्ध और हिंसा की छाया मंडराती रहेगी। उनका यह भय अंधविश्वास भर सिद्ध होगा, इस कामना के साथ यह आशा की जानी चाहिए कि इस महाकुंभ में स्नान करके भारतीय राजनीति कुछ तो पवित्र होकर निकलेगी तथा कुछ तो बेदाग छवि वाले जनप्रतिनिधि भारत भाग्य विधाता के रूप में लोकसभा पहुंचेंगे! इसे सुनिश्चित करने के लिए तुरंत प्रभाव से लागू आदर्श आचार संहिता के ईमानदारी से पालन की उम्मीद की जानी चाहिए।

राजनीतिक दलों और उनके कार्यकर्ताओं को चुनाव प्रचार के दौरान क्या-क्या नहीं करना चाहिए, इसकी वैसे तो लंबी सूची है। लेकिन एक चीज वर्तमान संदर्भ में इतनी ज्वलंत है जिसके पालन में सत्ता और विपक्ष दोनों को थोड़ी कठिनाई होगी। यह संभव नहीं दिखता की भाजपा ताजा एयर स्ट्राइक में भारतीय वायु सेना के पराक्रम का चुनावी लाभ लेने का लोभ छोड़ सके। इसी प्रकार विपक्ष भी इस घटना से जुड़े रहस्य का बहाना लेकर सवाल दागने से चूकने वाला नहीं है। ऐसे में देखना होगा कि चुनाव अभियान में सैन्य अभियानों को मुद्दा न बनाने के आयोग के निर्देश को निभाया जाता है; या उसकी धज्जियां उड़ाई जाती हैं! (वैसे भी हमारे यहाँ वे ही चीज़ें चुनावी मुद्दा बनती हैं, जो निषिद्ध होती हैं। धर्म, जाति और संप्रदाय के साथ ही इस सूची में अब सैन्य अभियान भी शामिल है।)

लेकिन इस समय अधिक चर्चा जनता के मूड और नेताओं के भविष्य की हो रही है। टीआरपी के भूखे चैनलों ने ऐसा युद्धक वातावरण पैदा करने की होड़ मचा रखी है, जैसे उन्हें अगली लोकसभा का पूरा नक्शा सपने में पहले ही देख चुका है। अतिशय वाचाल इलेक्ट्रोनिक मीडिया और अतिशय जल्दबाज़ सोशल मीडिया अपनी पूरी ताकत लगाकर जनमत को प्रभावित और भ्रमित करने के अभियान में जुटा पड़ा है। आशा की जानी चाहिए कि मतदाता उसके चकमें में न आएगा और मतदान करते समय केवल और केवल देशहित का ख्याल अपने दिमाग में रखेगा।

वैसे, मतदाता को लुभाने का खेल तो काफी अरसे से चालू है। ताबइतोड़ अनेक योजनाओं का शिलान्यास एक तरफ है तो दूसरी तरफ ऐसे वायदों की भरमार है जो असंभव लगते हुए भी सम्मोहन से परिपूर्ण हैं। चुनाव की पूरी प्रक्रिया सपने बेचने का ही खेल तो है! एक तरफ किथत मजबूत सरकार का सपना है, तो दूसरी तरफ किथत तानाशाही से मुक्ति का। बहुदलीय व्यवस्था के बीच हर एक को मालूम है कि कोई एक दल स्पष्ट बहुमत पा जाए, यह हो नहीं सकता। इसलिए तरह-तरह के गठबंधन हैं। मजे की बात यह है कि सबको अपना गठबंधन पवित्र लगता है और दूसरों का कलंकित। जनता इन गठबंधनों के सच को न समझती हो, ऐसा नहीं है। लेकिन फिलहाल यह तो मानना पड़ेगा कि पिछले कुछ दिनों में भाजपा ने अपने पुराने रूठे साथियों को मनाने और चले गए साथियों की जगह नए साथी बनाने में जो पटुता दिखाई है, लोग झुकना भले ही कहते रहें, वह राजनीतिक परिपक्वता का सूचक है। दूसरी ओर कांग्रेस जिस तरह क्षेत्रीय दलों को साथ लेने-लाने की ज़िम्मेदारी में अभी तक सफल नहीं हो पाई है; उसके पीछे या तो उसकी अकड़ है, या समझौते करने की अकुशलता। इसमें संदेह नहीं कि चुनाव की घोषणा के तुरंत बाद का

सप्ताह नए-नए गठबंधन और समझौतों की दृष्टि से बहुत घटनापूर्ण और रोचक रहने वाला है। अभी कई समीकरण और धुवीकरण सामने आने वाले हैं। उम्मीद की जानी चाहिए कि इनसे भी भारतीय लोकतंत्र की समझदारी और परिपक्वता कुछ और बढ़ेगी।000

(डेली हिंदी मिलाप, 12/03/2019)

तनाव और चुनाव

एक तरफ भारत-पाक संबंधों में तनाव घटने का नाम नहीं ले रहा है, तो दूसरी तरफ लोकसभा के लिए आम चुनाव की तिथियों की घोषणा बस होने-होने को है। हर एक के मन में प्रश्न है कि, इस स्थिति का मतदान पर कोई प्रभाव पड़ेगा या नहीं? और पड़ेगा तो, किस रूप में पड़ेगा?

जानकारों का मानना है कि बालाकोट एयर स्ट्राइक से लेकर भारतीय विंग कमांडर की सकुशल वापसी तक के राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रम ने प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की लोकप्रियता को सुनिश्चित रूप से बढ़ाने में सहायता की है। यही नहीं, इस दौरान जिस तरह राफेल मुद्दे को भ्रष्टाचार से हटाकर सुरक्षा पर केंद्रित करने में प्रधानमंत्री कामयाब रहे, उससे तो राहुल गांधी की काफी फजीहत होती भी दिखाई दे रही है। प्रधानमंत्री इस विचार को उछाल कर जनता की भावनाओं को उभारने का आगे भी पूरा प्रयत्न करेंगे की, यदि बालाकोट अभियान के दौरान भारत के पास राफेल विमान होता तो परिणाम कुछ और ही हुआ होता!

इतना ही नहीं, इस तनाव पूर्ण स्थिति का बड़ा असर यह भी माना जा रहा है कि आतंकवाद और पाकिस्तान के खिलाफ लड़ाई के विराट मुद्दे के समक्ष वे तमाम दूसरे मुद्दे बौने हो जाएंगे, जिन पर विपक्ष मोदी सरकार को घेरने की तैयारी किए बैठा था। अर्थात, अब बढ़ती बेरोजगारी, घटती जीडीपी दर और किसान असंतोष जैसे प्रश्न हाशिए पर जाने को मजबूर हैं क्योंकि राष्ट्रीय सुरक्षा का प्रश्न केंद्रीय प्रश्न बन गया है। इसी प्रश्न के इर्द-गिर्द 'मजबूत सरकार बनाम मजबूर सरकार' अथवा 'एक दल के बहुमत की सरकार बनाम महागठबंधन की सरकार' जैसे द्वंद्व नई व्याख्या प्राप्त करेंगे। राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्न को आजादी के प्रश्न के साथ जोड़ा जाना भी स्वाभाविक है। आजादी की चिंता लोकतंत्र से पहले आती है। इसलिए सुरक्षा के भाव को उभार कर मजबूत सरकार के लिए मतदान की अपील की जाएगी। कहना न होगा कि यह स्थिति भाजपा के पक्ष में जाती प्रतीत होती है।

लेकिन गौरतलब है कि सीमा पर तनाव का लोकसभा चुनाव से संबंध अतीत में अलग-अलग ढंग से देखा जा चुका है। 1971 के भारत-पाक संघर्ष के 8 महीने बाद हुए लोकसभा चुनाव में इंदिरा गांधी ने शानदार जीत हासिल की थी; इसे लोग भूले नहीं। लेकिन, 1999 में कारगिल युद्ध के भी केवल कुछ ही महीनों बाद जब आम चुनाव हुए तो अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में हालांकि भारतीय जनता पार्टी ने 1998 के समान ही 182 सीटें प्राप्त की थीं, परंतु विश्लेषण में उसका वोट शेयर कम पाया गया था। यानी, कारगिल के बाद भाजपा को पहले की चुनाव की तुलना में कम वोट मिले थे। यहाँ तक कि उत्तर प्रदेश में तो यह नुकसान 9 प्रतिशत तक का था। इसका अर्थ यह हुआ कि 2 महीने के युद्ध के दौरान जो जन भावनाएं पूरे उबाल पर थीं, मतदान के दौरान वे वोटों की शक्ल में नहीं बदल पाईं। इसका यह भी अर्थ है कि मतदाता युद्ध से उत्पन्न भावुकता में नहीं बहा। साथ ही, यह भी कि भारतीय जनता पार्टी की 1999 की जीत युद्ध से बने वातावरण की देन नहीं थी, बल्कि इसका श्रेय अटल बिहारी वाजपेयी के उस चमत्कारी नेतृत्व को जाता है जिस पर उस काल में मतदाता मुग्ध था। दूसरी तरफ, विपक्ष काफी कमजोर और बिखरा हुआ था। इसका भी लाभ भाजपा को मिला था।

इसिलए इतिहास का सबक तो यही है कि अतीत में भारत-पाक तनाव चुनाव में बहुत काम नहीं आया। देखना होगा कि इस बार के तनाव से जगा हुआ राष्ट्रवाद का उभार वोट में किस हद तक तब्दील होता है! यह इस पर निर्भर है कि भाजपा इस भावावेग को चुनाव के दिन तक किस रूप में सँभाल कर रख पाती है!000

(डेली हिंदी मिलाप, 07/03/2019)

कश्मीर: सियासत बनाम इन्सानियत

पिछले दिनों अचानक श्रीनगर आने-जाने वाली उड़ानों के कथित रूप से तीन महीने के लिए रद्द होने की घोषणा से पैदा हालात में साधारण कश्मीरी नागरिकों ने संयम, संतुलन और भाईचारे की अनुकरणीय मिसाल पेश की। गौरतलब है कि यह वही वक्त था जब भारत के बहादुर पायलट विंग कमांडर अभिनंदन वर्धमान की पाकिस्तानी फौज द्वारा गिरफ्तारी के कारण दोनों देशों के बीच तनाव इतना अधिक बढ़ गया था कि किसी भी क्षण आमने-सामने और आर-पार की लड़ाई के ऐलान की अटकलें जोरों पर थीं। इतना ही नहीं, यही वह वक्त भी था जब देश के कई अंचलों से इस प्रकार की चिंताजनक सूचनाएँ आ रही थीं कि पुलवामा की दुखद घटना के बाद कश्मीरी छात्रों (या कश्मीरी मूल के लोगों) को भेदभावपूर्ण व्यवहार का शिकार होना पड़ रहा है। राहत की बात यह थी कि इस प्रकार की हताशा और उन्माद की स्थिति के बीच भी अनेक लोगों - विशिष्ट व्यक्तियों और आम जनता – ने प्रताड़ित कश्मीरियों के प्रति सहानुभूति और एकजुटता दर्शाई तथा उनकी सुरक्षा के लिए चट्टान की तरह सामने आ खड़े हुए। यही मानवीय भावना कश्मीरी नागरिकों ने भी उन तमाम लोगों के प्रति प्रत्यक्ष रूप से प्रकट की जो गए तो थे कश्मीर सैर-सपाटे को, लेकिन फँस गए इस अवांछित घटनाचक्र से उत्पन्न अप्रिय परिस्थिति में।

अनुमान लगाया जा सकता है कि कश्मीर घाटी में फंसे हुए पर्यटकों पर क्या गुजरी होगी, जब उन्होंने गृह मंत्रालय की यह प्रारंभिक घोषणा सुनी होगी कि श्रीनगर सिहत देश के कई हवाई अड्डे तीन महीने के लिए बंद किए जा रहे हैं। जानकारों की मानें तो इस अप्रत्याशित घोषणा से कश्मीर घाटी में अन्य प्रांतों से आए पर्यटकों में अफरा-तफरी मच गई थी। उनका डर स्वाभाविक था कि अगर कहीं युद्ध के दौरान वे कश्मीर में फंसे रह गए, तो जाने क्या हो! कोढ़ में खाज यह कि श्रीनगर-जम्मू राष्ट्रीय राजमार्ग भी कई दिनों से बंद था। यानी हजारों गाड़ियाँ रास्ते में फंसी थीं और रास्ता साफ होने की प्रतीक्षा कर रही थीं। बहुत से पर्यटक ऐसे भी रहे होंगे जो आरामगाहों और होटलों से चेकआउट करके अगली उड़ान पकड़ने को निकल चुके होंगे।

अफरा-तफरी, अनिश्चितता और आशंकाओं के इस अचाहे संकट काल में काम आई कश्मीर की कश्मीरियत। इसे राष्ट्रीय भाईचारे और मनुष्यता का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जाएगा कि उस वक्त कश्मीर के एक-दो नहीं, दर्जनों होटलों ने वहाँ फँसे पर्यटकों के लिए अपने दरवाजे खोल दिए। मुफ्त रहने और खाने-पीने की घोषणा कर दी। होटल-मालिकों ले तो पर्यटकों को नि:शुल्क भोजन और आवास दिया ही, आम नागरिक भी पीछे नहीं रहे। सोशल मीडिया पर इस तरह के सद्भावनापूर्ण संदेश तमाम नफरत फैलाने वाले संदेशों को मुँह चिढ़ाते तैरने लगे कि सैलानी और कश्मीर में फँसे बाकी लोग अपने-आपको बेघर न समझें; हर कश्मीरी घर आपका अपना है।

संयोगवश अगले ही दिन उड़ानें फिर से आरंभ हो गईं और पर्यटक अपने घरों को सकुशल लौट सके। लेकिन कश्मीरी नागरिकों का यह एकजुटता, सदाशयता और सद्भावना का जज्बा दुनिया को कई तरह के संदेश दे गया। असल में किसी संकट काल में ही हमारे अपनेपन की परीक्षा होती है। आपित प्रेम की कसौटी है। कहा भी गया है, 'रिहमन विपदा हू भली, जो थोड़े दिन होय। हित-अनिहत या जगत में जानि परत सब कोय॥'(रहीम)। इस विपदा में भी कश्मीरी जनता के प्रेम की परीक्षा हुई और उसने अपने उच्च आचरण से सिद्ध किया कि, वाकई कश्मीर भारत का

अभिन्न अंग है और कश्मीरियत भी सही मायने में हिंदुस्तानियत तथा इन्सानियत का ही दूसरा नाम है, जो सियासत से बहुत ऊपर है! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 05/03/2019)

समय पर चुनाव : यानी सब कुछ ठीकठाक है

भारत और पाकिस्तान के बीच लगातार बढ़ते तनाव के मद्देनजर आम चुनाव के टलने की अटकलों पर अब विराम लग गया है। इस बारे में जो भी भ्रम की स्थितियाँ उभर रही थीं, उन्हें दरिकनार करते हुए मुख्य चुनाव आयुक्त ने स्पष्ट कर दिया है कि लोकसभा चुनाव- 2019 निश्चित समय पर ही होंगे और तारीख में कोई बदलाव नहीं होगा।

दरअसल, चुनावों को टाले जाने की आशंका या संभावना को पुलवामा हमले के बाद के घटनाक्रम से काफी बल मिला था। कई ओर से इस प्रकार के सुझाव आ रहे थे कि अब जबिक दोनों देश लगभग खुलकर आमने सामने आ गए हैं और भारत ने सर्जिकल स्ट्राइक- 2 करके पाकिस्तान पोषित आतंकवाद के खिलाफ युद्ध छेड़ ही दिया है, तो इसे अंतिम परिणित तक पहुंचा ही दिया जाए; तािक पाकिस्तान भविष्य में ऐसी हिमाकत न कर सके। भले ही इसके लिए लोकसभा चुनाव को कुछ महीने या साल भर के लिए टालना पड़े। लोगों के गुस्से के उबाल, सेनाओं की तैयारी और सरकार की आक्रामक नीतियों को देखते हुए यह लगना स्वाभाविक ही है कि इस बार अगर भारत और पाक का युद्ध हुआ तो आरपार का फैसला होने से पहले न रुकेगा। यही कारण है कि कुछ पर्यवेक्षकों को ऐसा लग रहा था कि शायद कम से कम 6 महीने के लिए लोकसभा के चुनाव खिसका दिए जाएँ। यह असंभव भी नहीं था। पहले भी ऐसा हुआ है कि लोकसभा की अविध बढ़ाई गई और चुनाव की तारीखें खिसकाई गई।

लेकिन, यदि चुनाव आयोग ने इन तमाम हालात के बावजूद समय पर चुनाव कराने का निश्चय दोहराया है तो इसमें भी कुछ संकेत और संदेश छिपे हो सकते हैं। यद्यपि देश अपनी सुरक्षा के लिए कभी भी किसी भी संकट का सामना करने के लिए युद्ध करने को तैयार है, तो भी सब कुछ इस तरह अपनी जगह ठीकठाक है कि व्यवस्था में कहीं कोई अफरा-तफरी अथवा अस्त-व्यस्तता नहीं है। अगर चुनाव टाले जाते तो यह लगता कि कोई ऐसी विकट परिस्थिति पैदा हो गई है, जिसके कारण देश की आंतरिक व्यवस्था को संभालना मुश्किल हो रहा है - जबिक ऐसा बिल्कुल नहीं है। चुनाव टालने से जो भ्रम और भय की अचाही स्थिति पैदा होती, उन्माद फैलाने वाले तत्व उसका दुरुपयोग करके देश में अस्थिरता लाने की कोशिश भी कर सकते थे। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी चुनाव आयोग के इस निर्णय से यह संकेत जाना स्वाभाविक है कि भारत एक ऐसी मजबूत अर्थव्यवस्था और प्रौढ़ लोकतांत्रिक व्यवस्था बन चुका है, जिसे न तो कोई विवाद विचलित कर सकता है और न कोई हमला।

वैसे चुनाव टलेंगे नहीं - इसका पूर्वाभास एक और बात से भी हो रहा था। वह थी प्रधानमंत्री की निरंतर आश्वस्त मुद्रा। प्रधानमंत्री की देह भाषा (बॉडी लेंगुएज) से लेकर उनके संदेशों और भाषणों तक में इस दौरान कोई भी ऐसा संकेत नहीं मिला कि चुनाव स्थगित भी किए जा सकते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे भारतीय सेनाओं की ओर से पूरी तरह आश्वस्त हैं और महसूस करते हैं कि लगभग युद्ध जैसी असामान्य परिस्थित में भी आम जनजीवन ही नहीं आम चुनाव जैसी लोकतांत्रिक प्रक्रिया भी अपनी गित से अपने समय पर सुचारु रूप में चलती रह सकती है। उनकी यह आश्वस्त मुद्रा देश की जनता को तो आश्वस्त करती ही है, दुनिया को यह संदेश भी देती है कि यह महादेश इतनी आसानी से विचलित होने वाला नहीं है!

अंततः यही कि वर्तमान तनावपूर्ण स्थितियों के बावजूद समय पर चुनाव का निर्णय भी एक प्रकार से देश की दृढ़ संकल्प शक्ति और अपराजेय जन चेतना का ही प्रतीक है। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 04/03/2019)

इस वक्त तो सियासत न कीजिए

विपक्ष ने एक स्वर से भारतीय वायु सेना के उस पराक्रम और साहसपूर्ण अभियान की प्रशंसा की है, जिसमें पाक अधिकृत कश्मीर में बालाकोट स्थित जैश ए मोहम्मद के आतंक के कारखाने जैसे प्रशिक्षण शिविर को ध्वस्त कर दिया गया। इतना ही नहीं, इसके बाद पाकिस्तानी सेना की बदले की कार्रवाई को भी विफल बनाने के लिए सेनाओं की सराहना की गई है। कांग्रेस सहित 21 विपक्षी दलों के इस साझा बयान में यह भी कहा गया है कि आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई में वे अपने सशस्त्र बलों एवं सेना के साथ खड़े हैं।

तमाम तरह की विविधताओं और वैचारिक मतभेदों के बावजूद संकट की घड़ी में भारत की जनता हमेशा अपनी एकता एवं एकजुटता साबित करती आई है। देश की आन बान शान का सवाल हो तो यहाँ राजनीतिक शत्रुताओं को भुला देने की भी स्वस्थ परंपरा रही है। इसलिए पुलवामा हमले और उसके बाद के सारे घटनाक्रम के दौरान भी देश की जनता यह चाहती रही है कि कुछ समय के लिए ही सही, सियासत स्थगित रहनी चाहिए। विपक्षी दलों का यह बयान उसी जन इच्छा का प्रतिबिंब है। लेकिन वह विपक्ष ही क्या जो मौके बेमौके सत्ता पक्ष पर आरोप लगाने से चूक जाए? और वह भी तब जब लोकसभा का आम चुनाव सिर पर हो! अपने गिरेबान में झाँकने की तनिक भी जहमत उठाए बगैर, विपक्षी दलों ने सरकार पर यह आरोप जड़ ही दिया कि पुलवामा हमले के बाद भाजपा के नेताओं ने जवानों की शहादत का राजनीतिकरण किया।

14 फरवरी से अब तक के सारे नेताओं के बयानों पर एक नजर डाली जाए तो बिना किसी शक के यह कहा जा सकता है कि शहादत पर सियासत करने में कोई भी पीछे नहीं रहा है- न सता पक्ष और न विपक्ष। सता पक्ष अगर इस पूरे अभियान को अपने निजी पौरुष के रूप में प्रचारित और व्याख्यायित करने की जल्दी में दिखाई देता है तो एक हद तक क्षम्य हो सकता है। लेकिन विपक्ष जिस प्रकार वक्त की नजाकत को समझते हुए भी इसलिए इसे सियासत का मुद्दा बना रहा है कि उसे सता पक्ष को श्रेय मिलने पर आपित है, तो चुनावी मौसम के बावजूद इसे विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता। सरकार को सियासत करने की नसीहत देने वाला बयान इसीलिए खुद सोची-समझी सियासी चाल लगता है। वैसे भी पुलवामा हमले के घाव हरे रहते ही कांग्रेस ने अपने प्रवक्ताओं के माध्यम से जिस प्रकार की शरारतपूर्ण और भ्रमित करने वाली बयानबाजी की उसे ओछी और छिछली सियासत का उदाहरण माना जा सकता है। इस समय अगर सरकार को श्रेय लेने की जल्दीबाजी नहीं करनी चाहिए, तो विपक्ष को भी चुनावी हानि-लाभ की चिंता से ऊपर उठकर दिखाना चाहिए।

गौर तलब है कि विपक्षी दलों की ओर से संयुक्त बयान पढ़ते हुए कांग्रेस अध्यक्ष ने साफ शब्दों में पाकिस्तान प्रायोजित आतंकवाद की कड़ी शब्दों में निंदा की और आतंकवाद के खिलाफ निर्णायक लड़ाई में सशस्त्र बलों और सेना के साथ एकजुटता का संकल्प दोहराया। लेकिन विपक्ष से यह भी उम्मीद की जाती है कि लगभग युद्ध जैसी आपात स्थिति में सेनाओं के साथ ही एकजुटता का ही नहीं बल्कि देश के राजनीतिक नेतृत्व के साथ भी सच्चे मन से एकजुटता का प्रदर्शन करने की जरूरत है। तभी भारत-विरोधी ताकतों तक यह संदेश जा सकता है कि देश की सुरक्षा का सवाल भारतीय जनता की तरह राजनीतिक दलों के लिए भी राजनीति से ऊपर की चीज है।

अंततः, स्वयं विपक्ष को अपने ही इस बयान पर अमल करने की जरूरत है कि राष्ट्रीय सुरक्षा के विषय में राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 01/03/2019)

विशेष दर्जे की माँग या अस्तित्व का संकट

आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चंद्रबाबू नायडू राज्य के लिए विशेष दर्जे की माँग के जिए अपनी खोई साख को फिर से लौटा लाने की जद्दोजहद करते नजर आ रहे हैं। प्रत्यक्ष रूप से भले ही वे प्रस्तावित महागठबंधन के महानायक बनने को उतावले दिखाई दे रहे हों, लेकिन परोक्ष रूप से उनके लिए यह अपनी पहचान को बचाने की लड़ाई अधिक है। जानकारों का मानना है कि वे खुद अपने राज्य में अस्तित्व के संकट से गुजर रहे हैं। खुद को प्रासंगिक बनाए रखने के लिए ही उन्हें आंध्र प्रदेश के लिए विशेष दर्जे की माँग को लेकर अनशन और धरने की महँगी राजनीति का दामन थामना पड़ा है।

वैसे एक दिन का अनशन यह देखने-दिखाने के लिए भी एक प्रयोग था कि मोदी विरोधी सभी विपक्षी दल उनकी आवाज़ पर एक साथ आ सकते हैं या नहीं। चंद्रबाबू नायडू को फिलहाल इस बात के लिए प्रसन्न होना चाहिए कि बहुजन समाज पार्टी के अलावा बाकी सभी विपक्षी दल उनके साथ इस बहाने एकजुट हुए। लेकिन अगर वे यह सोचते हैं कि अलग-अलग रहकर लोकसभा चुनाव लड़ने के बाद ये सारे दल एक साथ आकर उन्हें मोदी विरोध का सेहरा पहनाकर उनका राजतिलक कर देंगे, तो शायद इसे हथेली पर सरसों उगाना ही कहा जा सके!

नायडू के संकट की जड़ में उनका अवसरवादी राजनैतिक चिरत्र है। आज लोग उन्हें पलटीमार नेता के रूप में देखने लगे हैं। उन्होंने पहले तो केंद्र में भाजपा से दोस्ती गाँठी और चार साल से अधिक तक साथ रहने के बाद अगले चुनाव के मद्देनजर उससे कट्टी कर ली। इसके साथ ही तेलंगाना के विधानसभा चुनाव में उन्होंने कांग्रेस के साथ प्रेम की पींगें भरीं। लेकिन इस जोड़ी को यहाँ की जनता ने नकार दिया। यहाँ तक कि अब आंध्र प्रदेश में कांग्रेसी चंद्रबाबू नायडू की तेलुगू देशम पार्टी की छाया से भी बचती फिर रही है। नायडू को अभी भी शायद उम्मीद है कि कांग्रेस फिलहाल भले ही बिदक रही हो, खंडित जनादेश के चुनाव-बाद परिदृश्य में तो उसके साथ आ ही जाएगी। यह भारतीय राजनीति का कितना विडंबनापूर्ण और हास्यास्पद दौर है की चंद्रबाबू नायडू और अरविंद केजरीवाल जैसे अत्यंत संभावनाशील और जुझारू समझे जाने वाले नेता भाजपा के विरोध के नाम पर कांग्रेस का आवाहन करते डोल रहे हैं और कांग्रेस उनसे बचती फिर रही है!

गौर तलब है कि लोकसभा चुनाव के साथ ही आंध्र प्रदेश में विधानसभा के लिए भी चुनाव होना है। अगर राष्ट्रीय स्तर पर नायडू को गठबंधन के सहारे शीर्ष नेतृत्व नहीं मिला और इधर आंध्र प्रदेश भी उनके हाथ से निकल गया, तो वे घर के रहेंगे न घाट के। इसलिए उन्हें घाट से पहले घर पर ध्यान देने की ज्यादा जरूरत है। आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री पद के उनके दावे को जगन मोहन रेड्डी की ओर से तगड़ी चुनौती मिलने वाली है। व्यापक पदयात्रा करके वाईएसआर कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष जगन ने जमीनी स्तर पर मतदाताओं में पैठ बनाने का काम बहुत सोची-समझी रणनीति के तहत किया है। तेदेपा अध्यक्ष को उनसे मिलने वाली टक्कर के लिए भी तैयार होना है। दरअसल प्रदेश के लिए विशेष दर्जे की माँग को लेकर नायडु का अनशन मुख्य रूप से इसी तैयारी का हिस्सा था। इसी तैयारी के तहत वे ऐसी घोषणाएँ भी कर रहे हैं, जिनके पूरा होने में औरों को तो क्या शायद खुद उन्हें भी यकीन न हो। आंध्र प्रदेश में सरकारी तौर पर इवाकरा ग्रुप से जुड़ी महिलाओं को स्मार्ट फोन और तीन किस्तों में दस हज़ार रुपये देने की घोषणा इसका ताजा उदाहरण है। किसानों और विरष्ट नागरिकों को लुभाने की भी पूरी कोशिश जारी है। इसके

बावजूद अगर उनके साथी तेदेपा छोड़-छोड़कर अन्यत्र जा रहे हैं, तो समझना चाहिए उन्हें मुख्यमंत्री के रूप में नायडु की वापसी का भरोसा नहीं है।

फिलहाल तो यही हालात हैं, बाकी जनता भरोसे! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 26/02/2019)

गठजोड़ और समझौतों की राह

पुलवामा हत्याकांड के बाद राष्ट्रवाद और बिलदान की भावना के देशव्यापी उभार के बावजूद चुनावी जंग की तैयारियों में कोई कमी नहीं आई है। एक-दूसरे को कटघरे में खड़ा करने वाले आरोप-प्रत्यारोप, भाषणों और बयानों की पृष्ठभूमि में चुनावपूर्व गठजोड़ के साथियों को पहचानकर सौदा पटाने की कवायद अपना रंग दिखा रही है। इसी के तहत भारतीय जनता पार्टी ने महाराष्ट्र में शिवसेना को मिलकर लड़ने के लिए राजी करने के अलावा तमिलनाडु और पुदुच्चेरी में अन्नाद्रमुक और पीएमके के साथ भी समझौता करके यह साफ कर दिया है कि उसे क्षेत्रीय दलों की ताकत का अहसास है और वह नहीं चाहेगी कि उनके कारण उसका प्रदर्शन खराब हो।

एक-दूसरे के साथियों पर हँसने और हमला करने के बावजूद पक्ष और विपक्ष दोनों ही आगामी चुनाव के मैदान में कूदने से पहले अपने-अपने साथियों को पहचानने और उनके साथ समझौते करने में लगे पड़े हैं। सभी छोटे-बड़े दलों को यह भी अहसास है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कोई भी अकेले चुनाव लड़ने की नहीं सोच सकता। सबकी कोशिश है कि चुनावी मुकाबले अधिक से अधिक धुवीकृत हों। लेकिन भारतीय राजनीति में कई तरह की छुआछूत का रिवाज आम है। इसलिए ज्यादातर सीटों पर त्रिकोणीय या बहुकोणीय संघर्ष की संभावनाएँ प्रबल हैं। यही वजह है कि भारतीय जनता पार्टी और कांग्रेस दोनों ही क्षेत्रीय दलों के साथ उनकी माँगों और शर्तों पर गठबंधन और समझौते कर रही हैं। साफ है कि दोनों को ही खंडित जनादेश का डर खाए जा रहा है।

कहा जा रहा है कि महाराष्ट्र, तमिलनाडु और पुदुच्चेरी के चुनावपूर्व समझौतों में भारतीय जनता पार्टी कुछ ज्यादा ही झुक गई लगती है। लेकिन इसके अलावा कोई और चारा भी तो नहीं। बिहार में जद(यू) की माँगों के सामने झुक जाने के फैसले में भी यही संकेत छिपा है कि भाजपा की नजर इन क्षेत्रीय दलों के सहारे दिल्ली दरबार को फतह करने पर है - अकेले तो शायद ही किसी को बहुमत मिल सके। वैसे भाजपा अध्यक्ष ने अपने कार्यकर्ताओं को दिशानिर्देश दे दिया बताते हैं कि पुलवामा-प्रभाव को अपने पक्ष में वोट के रूप में बदलने के लिए हरसंभव प्रयास करें। कांग्रेस भी इसीलिए बाल की खाल निकालने के अंदाज में हमलावर है। कहना न होगा कि भारतीय जनता पार्टी इस वक्त कई कारणों से दबाव में है। भारत की जनता के चित की थाह पाना आसान नहीं है। कुछ पता नहीं कि राबर्ट वाड़ा पर जाँच एजेंसियों के दिन-प्रतिदिन कसते जा रहे शिकंजे के बावजूद जनता को प्रियंका गांधी में इंदिरा गांधी की छिव दीख जाए और वह सारे अंकगणित को ही उलट कर रख दे! इसके अलावा व्यापक किसान असंतोष, बे-लगाम बेरोजगारी और संभावित विपक्षी एकता के कारण भारतीय जनता पार्टी को अपने तमाम विकास की चमक फीकी पड़ने का खतरा भी है ही। इसलिए साथियों को साधने के लिए थोड़ा झुक जाने में ही बुद्धिमता है। आशा की जानी चाहिए कि इस बुद्धिमता का उसे सुपरिणाम भी मिल सकेगा।

अंततः यह भी गौरतलब है कि भले ही क्षेत्रीय दल अभी अपने बूते केंद्र में सरकार बनाने लायक शक्ति अर्जित न कर पाए हों, उन्होंने यह संकल्प तो प्रदर्शित कर ही दिया है कि वे अपने-अपने स्थान पर कहीं भाजपा-मुक्त तो कहीं कांग्रेस-मुक्त विकल्प प्रस्तुत करने की स्थिति मेन हैं। इसे देखते हुए आत्म-मुग्धता से बाहर निकलना राष्ट्रीय पार्टियों की मजबूरी भी है और जरूरत भी। अगर आप क्षेत्रीय दलों और उनकी महत्वाकांक्षाओं को समुचित स्थान और प्रतिनिधित्व नहीं देंगे, तो वे आपको चुनौती देते रहेंगे। इसलिए अगर थोड़ा नुकसान उठाकर भी भाजपा ने बिहार,

महाराष्ट्र, तमिलनाडु और पुदुच्चेरी में चुनावी समझौते कर लिए हैं, तो इनका दूरगामी असर सुखकर भी हो सकता है। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 23/02/2019)

अंतर्विरोधों से भरी एकता

सोलहवीं लोकसभा के अंतिम कार्यदिवस पर मोदी सरकार को संसद के बाहर भी घेरने की मंशा से आम आदमी पार्टी की रैली स्वयं विपक्ष को कई पाठ सिखाने वाली सिद्ध हुई। दिल्ली के जंतर-मंतर पर आयोजित इस रैली को 'तानाशाही हटाओ, देश बचाओ' नाम दिया गया था। सभी उपस्थित नेता देश के लिए कम और अपनी-अपनी पहचान के लिए अधिक चिंतित दिखाई दिए। तानाशाही को भी उन्होंने केवल एक व्यक्ति अर्थात प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी में रिड्यूस कर दिया। मन-वचन-कर्म से 'मोदी हटाओ' ही समस्त आयोजन का सूत्र प्रतीत हुआ। मोदी की तानाशाही को उजागर करने के प्रयास के बावजूद कोई भी यह नहीं दिखा सका कि प्रस्तावित महागठबंधन किस प्रकार उनकी तुलना में अधिक लोकतांत्रिक हो सकता है, जबिक उसमें शामिल अधिकतर नेता अपने जिद्दी और सनकी व्यवहार के कारण समय-समय पर तानाशाही तरीके अपनाते देखे जा चुके हैं।

मोदी विरोध के मंत्र से बंधे होकर भी गठबंधन के प्रस्तावित साझीदारों में एकता का अभाव साफ दिखाई दिया। कहना गलत न होगा कि ऐसे प्रयासों की जिस बड़ी सीमा पर नरेंद्र मोदी बार-बार व्यंग्य करते रहे हैं, उसे ही इन नेताओं ने अपने आचरण से प्रमाणित किया। उदाहरण के लिए, तृणमूल कांग्रेस और कम्युनिस्ट भला कैसे साथ-साथ बैठ सकते हैं, जबिक उनका अस्तित्व ही बंगाल में एक-दूसरे के विरोध पर टिका हुआ है। इसीलिए बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी के आने से पहले ही माकपा नेता सीताराम येचुरी और भाकपा नेता डी. राजा रैली स्थल से खिसक लिए। यह भी कहा जा सकता है कि जब तक वे रहे, तब तक ममता जी नहीं आई!

हर चुनाव में किसी-न-किसी बहाने नेताओं को महाभारत खूब याद आती है। इस बार इसकी शुरूआत येचुरी महोदय ने की है। उन्हें लगता है कि भाजपा भाई-भाई को लड़ाकर 'दु:शासन की राजनीति' कर रही है। यह मिसाल एकदम गलत है। दु:शासन ने कौनसे भाइयों को लड़ाया था? यह तो येचुरी ही बता सकते हैं। पर गठबंधन में भाईचारा न होने के अपराधी वे खुद ज्यादा दिखाई दिए। दूसरी तरफ कायर न होने और जो डरते हैं वह मरते हैं जैसी फिल्मी उद्घोषणाओं के बावजूद ममता बनर्जी भी सफाई देती नजर आईं। उन्हें पता है कि उनके वोटर पहला सवाल यही पूछेंगे कि अपने राज्य में जिस कांग्रेस और माकपा को फूटी आँख भी नहीं देखना चाहतीं, दिल्ली में उनके साथ मिलकर कैसे बैठ सकती हैं! इसीलिए उँगली कटाकर शहीद होने के तेवर में उन्हें कहना पड़ा कि, 'आने वाले दिन में इकट्ठा होकर लड़ेंगे। हमारे साथ कांग्रेस और सीपीएम का जो भी फाइट रहेगा, राज्य में रहेगा। नेशनल लेवल में हम एक साथ लड़ेंगे।' इतना ही नहीं, अपने चिर-परिचित तानाशाही रवैये को भी उन्होंने यह कहकर उजागर कर दिया कि, 'उन्हें हमारे खिलाफ लड़ने दो। मैं उसकी फिक्र नहीं करती।' इसके अलावा, वे कांग्रेस से इस बात को लेकर और ज्यादा तुनकी हुई नजर आई कि उसने शारदा चिटफंड मामले में संसद में उसका साथ नहीं दिया। इसके लिए उन्होंने अपनी अप्रसन्नता सोनिया गांधी पर जिस तरह प्रकट की, उससे तो नहीं लगता कि दोनों के दिल साफ हो पाएँगे। दिल साफ नहीं, तो गठबंधन कैसा?

यही दुविधा आप और कांग्रेस के साथ-साथ बैठने पर भी दिखी। इन दोनों का दिल्ली में अस्तित्व एक-दूसरे के विरोध पर टिका है। आप का तो अवतार ही कांग्रेस-वध हेतु हुआ था। अब दोनों एकसाथ दिखेंगे तो वोटर इसे अवसरवाद ही कहेगा न? अर्थात, आप की इस रैली से यही संदेश गया कि परस्पर विरोध के बावजूद विपक्षी दल केवल 'मोदी

हटाओं के नारे पर एक होने की मंशा रखते हैं। उनमें कोई अन्य वैचारिक समानता नहीं। रही सही कसर सोलहवीं लोकसभा के अंतिम दिन संसद में नरेंद्र मोदी को पुनः प्रधानमंत्री बनने का विधिवत आशीर्वाद देकर मुलायम सिंह ने पूरी कर दी!

कुल मिलाकर, जंतर-मंतर को जादू में तब्दील होने के लिए अभी काफी मशक्कत करने की जरूरत है। 000 (डेली हिंदी मिलाप, 15/02/2019)

सार्वजनिक धन से मूर्ति निर्माण ..

लखनऊ और नोएडा में अपनी तथा बहुजन समाज पार्टी के चुनावचिहन हाथी की मूर्तियाँ बनवाने पर खर्च किया गया सारा सरकारी धन उत्तर प्रदेश की पूर्व मुख्यमंत्री मायावती को शायद लौटाना पड़े। माननीय सर्वोच्च न्यायालय की इस आशय की टिप्पणी समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी के उत्तर प्रदेश की सीटों को आपस में बाँट लेने और खुशी-खुशी गठजोड़ कर लेने के उत्सवों पर बिजली की तरह गिरी है। इससे कथित महामिलावट की कोशिशों पर हमला बोलने का एक और अवसर भाजपा के हाथ घर बैठे लग गया है। यदि कठिन समय में ही सच्ची मित्रता की पहचान होने वाली बात को सच माना जाए (धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपत काल परखिए चारी॥ -तुलसी) तो मायावती पर आई यह आफत अखिलेश यादव की उनसे मित्रता की कसौटी है। लेकिन लग यह रहा है कि अखिलेश खुद को पाक-साफ दिखाने के लिए कुछ ज़्यादा ही जल्दी में हैं। इसीलिए उन्होंने सुप्रीम कोर्ट का झटका झेल रहीं बसपा सुप्रीमों के इस झमेले से खुद को एकदम अलग कर लिया है।

गौरतलब है कि समाजवादी पार्टी के प्रमुख अखिलेश यादव ने बसपा मुखिया मायावती और उनकी पार्टी के चुनावचिहन हाथी की मूर्तियाँ लगवाने के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय की मौखिक, अंतरिम टिप्पणी पर बहुत सावधानी से यह प्रातिक्रिया दी है कि 'मैं समझता हूँ कि बसपा नेता के वकील अपना पक्ष रखेंगे। यह कोई शुरुआती टिप्पणी हो सकती है जो मेरी जानकारी में अभी नहीं है।' नई-नई दोस्ती के बावजूद इस तरह किनारा कर लेने के पीछे शायद अखिलेश यादव का यह डर रहा होगा कि यदि न्यायालय ने अंततः यह मान लिया कि अपने और अपनी पार्टी के अमरता-अभियान के तहत मूर्तियाँ बनवाने में मायावती ने 'सार्वजनिक धन का दुरुपयोग' किया है, तो इस दागी छिव के साथ समझौता करते हुए चुनाव में उतरना खुद उनके लिए शर्मिंदगी का सबब बन सकता है।

यह ठीक है कि मायावती के इस सत्य से प्रदेश की जनता पहले से ही परिचित है, लेकिन देश के सर्वोच्च न्यायालय की विपरीत टिप्पणी इसे एक बड़े चुनावी मुद्दे में तब्दील कर सकती है। स्मरणीय है कि लखनऊ और नोएडा के पार्कों में बसपा-सुप्रीमो और बसपा-प्रतीक की मूर्तियाँ स्थापित करने के लिए कथित तौर पर पेड़ों के कटवाए जाने से पर्यावरण पर पड़े विपरीत प्रभाव से जुड़ी याचिका की सुनवाई के दौरान मुख्य न्यायाधीश ने मौखिक टिप्पणी करते हुए सार्वजनिक धन के इस तरह दुरुपयोग की ओर उँगली उठाई है।

प्रसंगवश पत्रकारों ने अखिलेश काल की भी एक घटना यादों के पिटारे से खोज निकाली। वह यह कि वर्ष 2012 में तत्कालीन मुख्यमंत्री अखिलेश यादव ने भी अपनी पूर्ववर्ती मायावती की क्षतिग्रस्त मूर्ति को बदलवाने के लिए सार्वजनिक धन का ही उपयोग किया था। इससे जुड़े सवाल पर वे चमक गए- "हमें उन्हें सम्मान देना था, इसीलिए दूसरी मूर्ति लगवाई थी। यह क्या बात हुई? सम्मान देना समाजवादियों का काम है। समाजवादी इसी रास्ते पर चलेंगे।सपा-बसपा का गठबंधन जनता का गठबंधन है। एक-दूसरे के सम्मान का गठबंधन है, इसलिए यह चलेगा।" बात तो है, महोदय, पर आपको रास आने वाली नहीं! सतारूढ़ होते ही हर पार्टी और उसके नेता जनता के धन को अपने पुरखों की जागीर समझने लगते हैं। इस प्रवृत्ति का कुछ तो इलाज होना ही चाहिए। रही बात गठबंधन की, तो भारत के चुनावी लोकतंत्र की यह भी एक बड़ी विडंबना है कि जनता और उसकी भलाई के नाम पर किए जाने वाले

सारे गठबंधन आम तौर पर जनता के नहीं, सत्ता के लिए लालायित नेताओं के गठबंधन होते हैं। ऐसा न होता तो जनता के धन की लूट से नेताओं के घर न भरा करते!

खैर, आगे की सुनवाई तो जब होगी तब होगी। फिलहाल बाबा नागार्जुन की कविता 'मायावती' देखते चलें-

मायावती मायावती।/ दिलतेंद्र की छायावती छायावती/ मायावती मायावती।/ गुरु गुन गायावती/ मायावती मायावती।। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 11/02/2019)

उत्पीड़न बनाम राजनीति

उसका नाम कुछ भी हो सकता है। वह महिला है – एक मुस्लिम महिला। बरसों से गुज़रा भत्ते के लिए कोर्ट-कचहरी के चक्कर काटती। बाकायदा शादीशुदा। बार-बार तीन तलाक और जबरन निकाह-हलाला की शिकार। तलाक दे चुके पति के साथ रहने के लिए पहली बार ससुर से और दूसरी बार देवर से संबंध बनाने के दबाव के आगे मजबूर।

उत्तर प्रदेश के बरेली जिले की एक मुजलूम औरत की यातना की यह कहानी शायद बड़ी-बड़ी राजनीतिक खबरों के बीच बेहद मामूली और महत्वहीन प्रतीत हो। लेकिन विडंबना यह है कि यह दास्तान संयोगवश उस दिन प्रकाश में आई है, जिस दिन अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय की मसीहा होने के दावे के साथ कांग्रेस ने तीन तलाक के बारे में एक बड़ी घोषणा की है। तीन तलाक को इस्लाम का अनिवार्य हिस्सा मानने वालों को इस महिला के जीवन को नजदीक से देखना-समझना चाहिए। इसकी शादी 2009 में हुई थी। दो साल तक माँ न बनने पर पित और ससुरालवालों ने उस पर जुल्म ढाने शुरू कर दिए। उसे कई-कई दिनों तक भूखा रखा जाता। जरा-जरा सी बात पर पिटाई तो आम बात थी। अंततः 2011 में पित ने तीन तलाक कह दिया। इसके बाद हलाला। फिर तलाक। फिर हलाला का दबाव। लेकिन ऐसी उत्पीड़ित स्त्रियाँ उन राजनीतिक दलों को कैसे दिखाई दे सकती हैं जिनकी दुकान अल्पसंख्यकवाद के ही सहारे चलती है?

अल्पसंख्यकों के बारे में अपनी चिंताओं को प्रकट करने के लिए कांग्रेस पार्टी ने दिल्ली में अल्पसंख्यक अधिवेशन आयोजित किया। खुद पार्टी अध्यक्ष राहुल गांधी की उपस्थिति में वहाँ यह 'परिवर्तनकारी' घोषणा की गई कि अगर आगामी लोकसभा चुनाव के बाद देश में कांग्रेस सता में आई, तो तीन तलाक को अवैध मानने वाले कानून को खत्म कर देगी। पार्टी के इस मंतव्य को एक महिला सांसद, ऑल इंडिया महिला कांग्रेस की अध्यक्ष ने उजागर किया। इसे दोहरी विडंबना ही कहा जाएगा कि अल्पसंख्यक महिलाओं के शोषण और उत्पीड़क को वैधता प्रदान करने वाली यह दुर्भाग्यपूर्ण घोषणा स्वयं एक महिला से करवाई गई; और वह भी अल्पसंख्यक अधिवेशन में। इसमें दो राय नहीं कि उन्होंने यह बयान कांग्रेस पार्टी और वहाँ उपस्थित अध्यक्ष राहुल गांधी की अनुमित से पूरी रणनीति के तहत दिया है।

संदेश एकदम साफ है कि चुनाव जीतने के लिए पार्टी किसी भी हद तक जाने के लिए कृतसंकल्प है! सच बात तो यह है कि उसे न तो स्त्रियाँ से कुछ मतलब है और न अल्पसंख्यकों से। मतलब है तो केवल वोट बैंक बचाकर रखने से। शायद ऐसी ही परिस्थिति के लिए यह कहावत गढ़ी गई होगी कि, 'बूढ़ा मरे या जवान, डायन को तो हत्या से काम। तीन तलाक की स्त्री-विरोधी प्रथा को कायम रखने की कांग्रेस द्वारा इस तरह हिमायत को अल्पसंख्यकों के सांप्रदायिक तुष्टीकरण के तौर पर देखा जाना स्वाभाविक है। इस संदर्भ में भाजपा के राष्ट्रीय प्रवक्ता की यह प्रतिक्रिया कुछ गलत नहीं लगती कि 'वोटों के लालच में एक ऐसी प्रथा का समर्थन दुर्भाग्यपूर्ण है जिसकी वजह से समाज में अनगिनत महिलाओं और बच्चों का जीवन हमेशा के लिए बरबाद हो जाता है। कांग्रेस ने इसके जरिए एक बार फिर शाहबानो प्रकरण की याद ताजा करा दी है। लेकिन आज का समाज बदल चुका है और वे उम्मीद करते हैं कि मुस्लिम समाज ही कांग्रेस को सबक सिखाएगा।' वैसे इसमें संदेह नहीं कि शाह बानो प्रकरण के युग से भारत का मुस्लिम

समुदाय आज बहुत आगे निकल चुका है। उसे धर्म-संप्रदाय के नाम पर तुष्टीकरण की राजनीति भी समझ आ चुकी होगी।

कुल मिलाकर, मतदाता को भरमाने के लिए कांग्रेस ने सोच समझकर यह जाल फेंका है। देखना होगा कि कितने अल्पसंख्यक फँसते हैं! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 09/02/2019)

शबरीमलै : परंपरा, न्याय और राजनीति

तमाम तरह की राजनीति-प्रेरित हायतौबा के बाद जाने कैसे अचानक केरल के प्रसिद्ध शबरीमले मंदिर के प्रबंधन को सद्बुद्धि आ गई। मंदिर में हर आयु वर्ग की महिलाओं के प्रवेश की अनुमित से जुड़े सर्वोच्च न्यायालय के फैसले पर पुनर्विचार के दौरान उसने यह कहकर सबको स्तब्ध कर दिया कि वह हर उम्र की महिलाओं के मंदिर में प्रवेश और दर्शन करने के अधिकार के पक्ष में है।

इसका अर्थ है कि मंदिर की देखभाल करने वाले त्रावणकोर देवास्वोम बोर्ड [टीबीडी] का अब तक का अड़ियल रुख बदलाव को आत्मसात न कर पाने का परिणाम था। इसके पीछे दलगत चुनावी राजनीति की प्रेरणा भी रही हो सकती है। गौरतलब है कि टीबीडी और प्रवेश-विरोधी संगठनों के इस अड़ियल रुख के कारण केरल में भारी हिंसा हुई तथा सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आधार पर परस्पर विरोधी विचारधाराओं का अशोभन टकराव उभरकर सामने आया। परंपरा के नाम पर रूढ़िवाद से चिपके किसी भी समुदाय का उसको बदलने के लिए राजी होना किसी भी प्रकार सरल कार्य नहीं है। इसलिए माननीय सर्वोच्च न्यायालय का भावी फैसला चाहे कुछ भी हो, लेकिन मंदिर प्रबंधन के इस 'हृदय परिवर्तन' का स्वागत किया जाना चाहिए। इस पूरे घटनाक्रम से एक बार फिर यह बात साफ तौर पर उभरी है कि परंपरा चाहे धार्मिक हो या सामाजिक, उसे जड़ नहीं होना चाहिए। बदलते समय और न्यायगत औचित्य के साथ बदल सकने वाली परंपरा ही व्यापक लोक की स्वीकृति पा सकती है।

बोर्ड के रुख में अचानक आया यह बदलाव इतना असहज प्रतीत होता है कि इसने खुद न्यायालय को भी यकायक विस्मित कर दिया। इस बारे में पूछे जाने पर बोर्ड के वकील ने कहा कि अब बोर्ड ने सर्वोच्च न्यायालय के फैसले का सम्मान करने का निर्णय किया है। उन्होंने भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25(1) का उल्लेख करते हुए कहा कि, 'सभी नागरिकों को अपने धर्म को मानने का समान अधिकार है।' मानसिक स्तर पर इसे रूढ़िवाद पर विवेक और तर्क की जीत भी कहा जा सकता है। इससे यह मिसाल कायम हो सकती कि आस्था के विषयों को भी संविधानसम्मत होना चाहिए।

प्रथा की रक्षा बनाम स्त्री-अधिकार की रक्षा के नाम पर अब तक हो चुकी हिंसा तथा राष्ट्रीय से लेकर लोकल स्तर तक की राजनीति के दोमुँहेपन के बावजूद इस सारे विवाद से कई ऐसे प्रश्नों से समाज का सामना हुआ, जिनसे हम प्रायः कन्नी काटकर निकल जाने के आदी रहे हैं। उदाहरण के तौर पर, नायर समाज की तरफ से विरष्ठ वकील के.पराशरन ने अपनी दलील में पुरातन रीति के प्रति समाज के मोह का भी समर्थन किया। रजस्वला महिलाओं के मंदिर में प्रवेश पर प्रतिबंध या ऐसी किसी घटना के होने पर मंदिर के शुद्धीकरण को वे मंदिर का अपना अधिकार मानते हैं। उनके अनुसार, इसमें संविधान का हस्तक्षेप वांछित नहीं। गौरतलब है कि 2 जनवरी को 44 और 42 वर्षीय दो महिलाओं ने शबरीमलै स्थित अय्यप्पा मंदिर में प्रवेश किया था। मंदिर में महिलाओं के प्रवेश के बाद मुख्य पुजारी ने 'शुद्धीकरण' समारोह के लिए मंदिर के गर्भ गृह को बंद करने का फैसला किया। मंदिर को तड़के 3 बजे खोला गया था और 'शुद्धीकरण' के लिए उसे सुबह साढ़े दस बजे दुबारा बंद कर दिया गया था। के. पराशरन का कहना है कि इस शुद्धीकरण को छुआछूत नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह मंदिर की प्रथा है।

इसके विपरीत, हैदराबाद की दसवर्षीय बालिका की ओर से उठाया गया मासूम सा सवाल ऐसी तमाम प्रथाओं का मुँह चिढ़ाता प्रतीत होता है। सवाल यह कि 'यदि दसवर्षीय बालिका के कारण मंदिर के इष्टदेव का ब्रहमचर्य खंडित होता है, तो क्या यह किसी बालिका को कामुकता के प्रतीक के रूप में देखना नहीं है?' उत्तर में प्रथाएँ अवाक् हैं!000

(डेली हिंदी मिलाप, 08/02/2019)

सत्याग्रह या दुराग्रह?

पश्चिम बंगाल के पुलिस आयुक्त राजीव कुमार की खोज में वहाँ गए केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो [सीबीआई] के दल को जैसे घोर प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, इसकी उसने कल्पना भी नहीं की होगी। अपनी साख बचाने के लिए महीनों से तरह-तरह के झटके झेल रही सीबीआई को यह बड़ा झटका देने को मुख्यमंत्री ममता बनर्जी नेपथ्य से निकलकर एकदम सामने ही नहीं, सड़क पर उत्तर आईं।

पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी मँजी हुई और दुस्साहसी राजनीतिज्ञ हैं। प्रधानमंत्री बनने की उनकी महत्वाकांक्षा भी किसी से छिपी नहीं है। उनके मिजाज की तल्खी और तुर्शी भी आमतौर पर चर्चा में रहती है। कुछ दिन पहले उन्हें उन्होंने आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चंद्रबाब् नायड़ के सुर में सुर मिलाकर यह घोषणा की थी कि उनके राज्य में केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो [सीबीआई] को घुसने नहीं दिया जाएगा। इसके अलावा उन्होंने लोकसभा चुनाव - 2019 हेतु भाजपा विरोधी महागठबंधन के लिए तो कमर कस ही रखी है। राज्य में अपने जनाधार को पुनःस्थापित करने और राष्ट्रीय राजनीति में अपना कद अन्य विपक्षी छत्रपतियों से बड़ा करने के लिए उन्हें किसी सनसनीखेज अवसर की प्रतीक्षा थी। सीबीआई ने उन्हें घर बैठे वह अवसर उपलब्ध करा दिया। उन्होंने शेरनी जैसी त्वरा और चालाकी के साथ उसे लपक लिया और एक प्रशासनिक गतिविधि का घोर राजनीतिकरण करते हुए, संदिग्ध उच्चतम पुलिस अधिकारी को ही साथ लेकर, खुले में धरने पर बैठ गईं।

दादागिरी का यह कदम दीदी की बेहद सोची-समझी चाल का हिस्सा है। उन्होंने जानबूझकर ऐसी स्थित पैदा कर दी है जिसे 'संवैधानिक संकट' कहा जाता है। वर्तमान संदर्भ में इस कार्य को 'अराजकता' और 'विद्रोह' भी माना जा सकता है। सीबीआई के अधिकारियों की गिरफ्तारी और रिहाई का नाटक वस्तुतः भारत संघ की 'संघीयता' को खुली चुनौती है। उनके इस संविधानविरोधी आपत्तिजनक आचरण के बावजूद अगर केंद्र सरकार कोई कारगर कार्रवाई नहीं कर पाती है, तो इसे दीदी की जीत माना जाएगा ही। लेकिन अगर उनकी सरकार के विरुद्ध कोई कठोर कदम उठाया जाता है, तो यह उनके लिए और भी बड़ी जीत होगी। 'सत्याग्रह' के नाम पर वे जिस 'दुराग्रह' पर अड़ी हैं, उसका प्रयोजन ही है कि वे इस तरह अपनी सरकार का 'बलिदान' देकर 'शहीदों' की पंक्ति में शुमार होना चाहती हैं। इससे उनका कद बढ़ जाएगा और इधर-उधर भटकते विपक्षी गठबंधन के साथी उनकी छतरी के नीचे बने रहने को मजबूर हो जाएँगे। इसीलिए वे केवल 'विद्रोही' नहीं, 'शहीद' वाली मुद्रा में ताल ठोक रही हैं कि, 'आओ; मेरी सरकार की 'बलि' लो और मुझे 'महान' बनाओ!

चुनाव सिर पर न होते, तो ऐसा तुरंत हो भी जाता। लेकिन इस वक्त केंद्र सरकार को फूँक-फूँककर कदम धरने पड़ रहे हैं। उसने संसद में अपना पक्ष रखने के साथ-साथ दीदी को सर्वोच्च न्यायालय में घेरने का पूरा इंतजाम किया है। अगर केंद्र सरकार उन्हें वहाँ भारत संघ के संवैधानिक ढांचे को ठेस पहुँचाने का दोषी सिद्ध कर सकी, तो दीदी खुद मुसीबत में पड़ सकती हैं। अन्यथा तो उन्होंने केंद्र सरकार को सीबीआई के दुरुपयोग का दोषी घोषित करके भाजपा को मुसीबत में डाल ही रखा है।

संदिग्ध पुलिस अधिकारी का रक्षाकवच बन अपनी सरकार तक को दाँव पर लगाने की दीदी की यह चतुराई सबकी समझ में आ रही है। इससे भाजपा को भी यह अवसर हाथ लग गया है कि उन्हें शारदा चिटफंड घोटाले के पीड़ितों की विरोधी के रूप में जनता के सामने पेश कर सके। भाजपा यह भी याद दिला रही है कि सीबीआई केंद्र सरकार के नहीं, बल्कि सर्वोच्च न्यायालय के निर्देश पर राजीव कुमार के खिलाफ जाँच कर रही है। सीधा सा सवाल है कि क्या ममता बनर्जी सर्वोच्च न्यायालय और भारतीय संविधान से ऊपर हैं!

कुछ भी हो, सत्याग्रह के नाम पर दीदी का दुराग्रह प्रशासन, राजनीति और लोकसभा चुनाव पर दूरगामी असर तो डालेगा ही। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 06/02/2019)

आकांक्षा: जन की या निज की

ऐतिहासिक स्थान और घटनाओं को याद करने और याद दिलाने से अगर इतिहास सचमुच दुहराया जा सकता, तो पटना के गांधी मैदान में कांग्रेस-अध्यक्ष की जनाकांक्षा रैली किसी क्रांति का सूत्रपात कर सकती थी। लेकिन विडंबना यह है कि हम इतिहास की मृत्यु के युग में जी रहे हैं। एनडीए को अगर यह रैली पूरी तरह असफल दिखाई दी तो इसे जानबूझकर वैसा देखना भी कहा जा सकता है। लेकिन अगर महागठबंधन के किसी सहयोगी को भी ऐसा ही दिख रहा है तो, जरूर दाल में कुछ तो काला है। दानिश रिजवान के असंतुष्ट तेवर इसी ओर इशारा करते दिखते हैं। हम पार्टी के इस नेता को कांग्रेस-अध्यक्ष की रैली में बिखराव ही बिखराव नजर आया। अतः लगता है कि बिहार में पनप रहे महागठबंधन के भीतर अभी सब कुछ ठीक नहीं है। भले ही राजद यह कहकर अपनी पीठ थपथपा ले कि राहुल और तेजस्वी की बढ़ती दोस्ती से विरोधी डर गए हैं। (वैसे आजकल हर दल जाने क्यों यह कहने लगा है कि उससे दूसरे डर रहे हैं। चुनावी लोकतंत्र में एक-दूसरे को डराने की प्रवृत्ति का यह उभार कोई भली बात तो है नहीं!)

विचारणीय है कि देश की सता के शिखर पर लंबे युग तक अकेली चमकती रहने वाली कांग्रेस अब अपनी वह चमक खो चुकी है। अब वे दिन लद गए जब क्षेत्रीय पार्टियां कांग्रेस की छतरी के नीचे आने के लिए लालायित रहती थीं। अब तो कांग्रेस उन्हें अपने साथ लाने के लिए दाना फेंकती दिखाई दे रही है। इसीलिए कांग्रेस-अध्यक्ष को कहना पड़ा कि, 'अगर आप कांग्रेस पार्टी के साथ खड़े रहेंगे, तो कांग्रेस पार्टी भी लोकसभा से लेकर विधानसभा चुनावों तक आपकी सहयोगी बनकर चुनाव लड़ेगी।' मंच से उन्हें इस प्रकार की घोषणा क्यों करनी पड़ी होगी? शायद क्षेत्रीय छत्रपतियों के साथ खड़े रहने के प्रति वे पूरी तरह आश्वस्त नहीं हैं।

भीड़ अगर कोई मानक हो, तो जानकारों का कहना है कि जनाकांक्षा रैली में जन की भागीदारी आकांक्षा से कम रही। बातें यहां भी वही कही गईं जो दूसरी सब जगहों पर कही जाती रही हैं। मसलन, कांग्रेस की सरकार आई तो पूरे देश में किसानों का कर्ज माफ कर दिया जाएगा। लगता है पार्टी ने तमाम आर्थिक विशेषज्ञों की विपरीत टिप्पणियों के बावजूद कर्जमाफी को किसानों को लुभाने का मंत्र मान लिया है। इसके आधार पर वह 'अगली हरित क्रांति' लाने की आकांक्षा रखती है जिसमें राजस्थान, मध्य प्रदेश और छतीसगढ़ के साथ बिहार भी शामिल होगा।

जल की आकांक्षाओं का तो पता नहीं लेकिन पार्टी की आकांक्षा अवश्य समझी जा सकती है। वह है कि किसी तरह 'दोस्ती' बनी रहे। इसीलिए तो राहुल गांधी को यह भी साफ करना पड़ा कि लालू यादव और तेजस्वी यादव के साथ 'अब' उन्हें मंच पर बैठने में कोई परहेज नहीं। तेजस्वी यादव ने भी दोस्ती और वफादारी का परिचय देते हुए तिमलनाडु के एक नेता के पिछले दिनों दिए गए बयान की तर्ज पर राहुल गांधी की राजनीतिक परिपक्वता के गीत गाए। उनका यह कहना कांग्रेस के लिए बड़ा मददगार हो सकता है कि 'राहुल गांधी में प्रधानमंत्री बनने की योग्यता है। कांग्रेस बड़ी पार्टी है इसलिए सहयोगियों को जोड़ना उसका दायित्व है।' उन्होंने अपनी यह आकांक्षा भी प्रकट की कि प्रधानमंत्री बनने के बाद राहुल गांधी गरीब राज्य बिहार पर ध्यान देंगे। हाँ, जीतन राम मांझी ने भी उनके साथ सुर मिलाते हुए आह्वान किया कि, 'अगला प्रधानमंत्री राहुल गांधी को बनाना है।' कांग्रेस नेता सदानंद का तो यह कहना बनता ही है कि 'राहुल गांधी जनता की आवाज हैं और वे देश झंडा फहराएंगे।'

कुल मिलाकर, जन आकांक्षा रैली जन की आकांक्षाओं की तुलना में, कांग्रेस अध्यक्ष की प्रधानमंत्री पद पर आसीन होने की आकांक्षा को अधिक उजागर करने वाली रही। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 05/02/2019)

दस साल के लिए एजेंडा सेटिंग!

मोदी सरकार ने 2019-20 का अंतरिम बजट पेश कर दिया। इसमें कोई दो राय नहीं कि इस बजट की नजर पूरी तरह भविष्य पर है। भविष्य का अर्थ यहाँ केवल आगामी लोकसभा चुनाव नहीं, बल्कि अगले दस साल है। इस बजट के माध्यम से मोदी सरकार ने आगामी दस वर्ष के लिए अपना एजेंडा भी सेट किया है

2018 के कुछ प्रदेशों के विधानसभा चुनावों से लेकर आगामी लोकसभा चुनाव के मद्देनजर अलग-अलग विपक्षी दलों की घोषणाओं, योजनाओं और आश्वासनों के केंद्र में गरीब, किसान, युवा और स्त्रियां हैं। इसे ध्यान में रखते हुए यह बजट ऐसे भारत के निर्माण को केंद्र में रखता है जिसमें गरीबी, कुपोषण, गंदगी और निरक्षरता नहीं होगी। ऐसे समाज की रचना के संकल्प के साथ इसे पेश किया गया है जो भेदभावरहित, पारदर्शी और आधुनिक होगा तथा जिसके विकास के उंचे लक्ष्य को तकनीक के सहारे गित दी जाएगी।

इसमें संदेह नहीं कि ये लक्ष्य और संकल्प बेहद आदर्शवादी हैं। लेकिन इसमें भी दो राय नहीं कि आजादी के लिए संघर्ष के काल से ही यह देश ऐसे ही समाज का सपना देखता आ रहा है जिसमें सबसे पिछले आदमी का विकास हो, समता और समरसता का वातावरण निर्मित हो, भ्रष्टाचार से मुक्त आर्थिक और सामाजिक परिवेश हो और कल्याणकारी शासन हो।

इन आदर्शों की तुलना में यथार्थ बेहद निराशाजनक और असंतोष उपजानेवाला रहा है। तमाम कल्याणकारी योजनाओं के बावजूद भारतीय समाज में भेदभाव, असुरक्षा, जइता और मूर्खता बढ़ती ही गई है क्योंकि दलगत राजनीति के लिए ऐसी ही जनता वोट-बैंक बन पाती है। वही तो भेड़-चाल में चलती हुई बार-बार किसी-न-किसी कुएँ में जा गिरती है। इसका अर्थ है कि जानबूझकर प्रगति और विकास को ठेंगा दिखाना और यथास्थिति को बरकरार रखना एक बना-बनाया राजनीतिक एजेंडा रहा है। इसके समानांतर एक ऐसा एजेंडा वांछित है जिसमें देश की अधिसंख्य ग्रामीण जनता की आर्थिक और तकनीकी विकास में भागीदारी हो सके। यह बजट अंतरिम होते हुए भी आगामी दशक के लिए इसी हिण्ट से एजेंडा सेटिंग करता प्रतीत होता है।

चुनाव की दृष्टि से सब को खुश करने के लिए उपहार देने की मजबूरी और चालाकी के बावजूद यह बजट किसानों के लिए आर्थिक सहयोग की जैसी नई योजना लेकर आया है, वह स्वागतयोग्य है। ऋणमाफी और सब्सिडी के बजाय सीधे धनराशि उपलब्ध कराना किसानों के लिए अधिक सुविधाजनक होगा। वेतनभोगी वर्ग को आयकर में जिस प्रकार की भारी छूट दी जा रही है, उससे उसे भी खुश होना ही चाहिए।

अब देखना यह है कि, बजट द्वारा मोदी सरकार जिन-जिन वर्गों-समुदायों को खुले हाथों खुशियां बांट रही है, उनकी यह खुशी वोट के रूप में बदलेगी या नहीं? इतिहास गवाह है कि भारत की सहज-संतोषी जनता अहसान-फरामोश नहीं है। वह धोखा देनेवाले को दंड देना जानती है, तो खुशी बांटने वाले पर निछावर भी हो जाती है। अतः जनता के इस भोले आशुतोष स्वभाव के कारण भाजपा अगले चुनाव में जनता से वरदान (मतदान) की उम्मीद रख सकती है लेकिन यही स्वभाव विपक्षी दलों के लिए चिंता का सबब है। इसीलिए वे इस बजट को नापसंद कर रहे हैं। सरकार पर हमलावर हैं। उन्हें यह बजट वास्तविकता से दूर जुमलेबाजी वाला लगता है। वे इसे झूठ का पुलिंदा कह रहे हैं।

इसके बावजूद उद्योग जगत की यह प्रतिक्रिया मोदी सरकार को आश्वस्त कर सकती है कि इस बजट का मूल केंद्र सशक्त भारत है। इसमें अर्थव्यवस्था की मौजूदा चुनौतियों को संबोधित करने के साथ भविष्य की दिशा में भी संकेत किया गया है ताकि आम लोगों के जीवन स्तर में सुधार लाया जा सके।

कुल मिलाकर, सरकार आम लोगों का तथा भविष्यमुखी बजट लेकर आई है। विपक्ष का हलकान होना भी अपनी जगह स्वाभाविक है!000

(डेली हिंदी मिलाप, 04/02/2019)

प्रियंका : राह्ल के 'बावजूद'

लोकसभा चुनाव सिर पर हैं। इस समय पाँच वर्ष की रहस्यमय चुप्पी के बाद प्रियंका गांधी का प्राकट्य केवल पूर्वी उत्तर प्रदेश के लिए नहीं हुआ है। अमेठी, रायबरेली और वाराणसी अहम ज़रूर हैं, लेकिन कांग्रेस नहीं चाहेगी कि उसकी एक मात्र आशा की किरण वहीं कैद होकर रह जाए। नहीं। वे अब प्रत्यक्ष रूप में कांग्रेस की मुख्य रणनीतिकार बन कर उभरेंगी। राहुल गांधी के बावजूद प्रियंका गांधी पार्टी का चेहरा बनने वाली हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। और अगर ऐसा है तो वे एक अंचल तक सीमित नहीं रहेंगी। बल्कि पूरे देश में आँधी चलाने की ज़िम्मेदारी निभाएँगी। इसीलिए आजकल मुख्य रूप से कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी (और गौण रूप से सभी राजनीतिक दलों) के हाव-भाव और भाषा-भंगिमा में हद दर्ज की आक्रामकता दिखाई दे रही है। कभी कभी तो लगता है कि चुनाव न हुए, जीवन-मरण का युद्ध हो गया। यह युद्ध जनता की छाती पर लड़ा जा रहा है। अजेय महारथी के रूप में इस युद्धक्षेत्र में प्रियंका गांधी के पदार्पण को बाजी पलटने वाली चाल समझा जा रहा है। इस घोषणा के दिन से दोनों ही पक्षों के योद्धा नए तेवर और नए पैंतरों के साथ रण कौशल दिखाने पर उतारू हैं। जनता साँस रोके शवासन में पड़ी है।

राहुल गांधी को शायद यह बात समझ में आ गई है कि उनकी पप्पू-छिव एक गंभीर और पिरपक्व राजनेता के रूप में उनकी व्यापक जन-स्वीकृति के आड़े आ रही है। इसिलए उन्होंने सोच समझकर प्रियंका को नेपथ्य से निकाल कर मंच पर उतारा है। कहना न होगा कि अब मतदाता की दृष्टि राहुल के बावजूद प्रियंका पर ही अधिक होगी। वे कांग्रेस के उस गुरिल्ला दस्ते का नेतृत्व करेंगी जो हर दिशा से भाजपा पर औचक हमले के लिए जिम्मेदार होगा। वैसे पूर्वी उत्तर प्रदेश की राजनीति की उन्हें शायद गहरी समझ है और वे विधान सभा चुनाव के समय समाजवादी पार्टी से समझौते में अहम रोल निभा चुकी हैं। इसिलए उस मोर्चे पर उनकी तैनाती अपनी जगह ठीक ही है।

यह तथ्य भी काफी रोचक है कि वंशवादी राजनीति के तमाम तरह के आरोपों के बावजूद राहुल गांधी पहले ही दिन से प्रियंका की चर्चा हर जगह 'मेरी बहन' कह कर करते आ रहे हैं। इसका उद्देश्य अपने परिवार को प्रोजेक्ट करना ही है। तािक जनता को लगे कि यही एक परिवार इस देश में लोकतंत्र का तारणहार है। इसका असर हो रहा है। एक तरफ भाजपा इसे सता में आने की ऐसी अनिवार्य चाल बताते नहीं थकती जिसके बिना राबर्ट वाड्रा को तथकाठी आर्थिक मामलों में बचा पाना संभव नहीं। वहीं दूसरी तरफ,अभी से बहुत से बुद्धि-व्यवसायी यह भी समझाने लगे हैं कि अगर पित राबर्ट वाड्रा के कारोबारी लेन-देन में गड़बड़ी होती, तो प्रियंका यह कदम उठाने की हिम्मत नहीं कर सकतीं थीं।

वंशवाद के आरोपों के बावजूद राहुल गांधी का निस्संकोच अपने परिवार का बार बार ज़िक्र उनके इस विश्वास का भी सूचक है कि प्रियंका गांधी का इंदिरा गांधी जैसी दिखना जनता को भरमाने के लिए बहुत काम आने वाला है। वैसे भी नब्बे के दशक से ही प्रियंका की छवि एक सहज, मिलनसार, हाज़िरजवाब, सौम्य और शालीन नेता की है। इसलिए उनकी स्वीकार्यता राहुल गांधी की तुलना में बहुत-बहुत अधिक है। लेकिन पिछले पाँच साल वे राजनीति में सिक्रय नहीं थी; इसका जो कारण राहुल गांधी बताते फिर रहे हैं वह गैर-ज़रूरी है। बच्चों के लालन-पालन की बात कहकर वे शायद यह सिद्ध करना चाहते हों कि उनका सारा परिवार राजनीति में अपनी रुचि से नहीं, बल्क 'देश और कांग्रेस का उद्धार' करने के लिए आया है। वरना राजीव-सोनिया से लेकर राहुल-प्रियंका तक को राजनीति नहीं, अपना घर-परिवार पसंद था! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 01/02/2019)

न्यूनतम आय गारंटी

विधानसभा चुनावों में मिली जीत से उत्साहित कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी दिल्ली की लड़ाई जीतने के लिए जी-तोड़ मशक्कत कर रहे हैं। अपनी पार्टी की सरकार वाले राज्यों में किसानों के कर्ज़ माफ कर उन्होंने भाजपा पर बढ़त हासिल कर ली है। इसे आगे बढ़ाने के लिए अब उन्होंने अगला बड़ा दांव चल दिया है। इस दांव का नाम है – न्यूनतम आय की गारंटी।

जानकारों का मानना है यह योजना मोदी सरकार की ऐसी ही एक विचाराधीन योजना की चमक फीकी करने के लिए लाई गई है। यह स्वाभाविक है, क्योंकि लोकसभा चुनाव कुछ ही महीने के फासले पर हैं। जनता को लुभाने के लिए राजनीतिक पार्टियां रोज़ नई जुगत भिड़ा रही हैं। ऐसे मौकों पर एक दूसरे के शिविर में झांकना आम बात है। इससे प्रतिपक्षी की योजना का भान हो जाए, तो पहले से आगे की तैयारी कर ली जाती है। कांग्रेस को भनक लग गई होगी कि मोदी शिविर में देश के सभी परिवारों को न्यूनतम आय देने को लेकर विचार चल रहा है। उसे 'यूनिवर्सल बेसिक इन्कम' कहा जा रहा है। न्यूनतम आय गारंटी का विचार उछल कर राहुल शिविर ने उसे लपक लिया है। उन्होंने छतीसगढ़ में किसी कुशल सौदागर की तरह यह सपना जनता के सामने फैला दिया। उनका वादा है कि यदि केंद्र में कांग्रेस सरकार बनी तो सभी परिवारों को न्यूनतम आय की गारंटी का अधिकार दिया जाएगा। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह सपना आगामी चुनाव में मतदाताओं को व्यापक स्तर पर सम्मोहित करेगा। देखना होगा कि इसके जवाब में मोदी शिविर से अब कौन सा मारणास्त्र दागा जाएगा। बजट के बहाने एक नहीं अनेक सपने दिखाने और वादे करने का स्नहरा मौका उनके हाथ में है!

भूख और गरीबी के बारे में काफी भावुक बातें करते हुए कांग्रेस अध्यक्ष ने स्पष्ट किया कि 2019 में सत्ता में आने पर उनकी पार्टी गरीबों को न्यूनतम आय की गारंटी का अधिकार प्रदान करेगी। इसके तहत लोगों के बैंक खाते में प्रति माह एक निश्चित राशि सरकार की ओर से डाली जाएगी, जिससे कि गरीब भी बेहतर ज़िंदगी जी सके। यह राशि 1500 से 1800 रुपये हो सकती है। इसे यों भी समझा जा सकता है कि यह योजना इंदिरा गांधी और राजीव गांधी के जमाने की गरीबी हटाओ योजना का नया अवतार है।

वैसे मोदी शिविर ने दो साल पहले 2016-17 के आर्थिक सर्वेक्षण में 'यूनीवर्सल बेसिक इनकम' के रूप में यह विचार पेश किया था। अंतर यह है कि वह योजना गाँव-शहर के भेदभाव से परे एक तय सीमा से कम आमदनी वाले हर नागरिक को यह लाभ देने पर आधारित थी। राहुल गांधी की योजना मुख्यतः गाँव और किसान पर लिक्षित प्रतीत हो रही है। पूरा खुलासा तो घोषणापत्र में ही रहेगा।

नाम चाहे कुछ भी हो और उसे लाए भी चाहे कोई सा शिविर, सोचने वाली बात है कि उसके लिए पैसे की व्यवस्था किसकी जेब काट कर की जाएगी। योजना आकर्षक हो सकती है लेकिन उसका बोझ करदाता मध्यवर्ग को ही ढोना होगा न! यह भी समझना मुश्किल नहीं है कि इसके लिए उन कई सारी कल्याणकारी योजनाओं को बंद करना पड़ सकता है, जो इस समय लागू हैं। वैसा हुआ तो काफी अफरा-तफरी और असंतोष भी उभर सकता है। बताया जाता है कि कुछ दूसरे देशों में 1960 के दशक से ऐसी योजनाएँ चल रही हैं। इसी तरह अमेरिका की एक चैरिटी संस्था 21,000 वयस्कों को हर महीने कुछ पैसे देती है और देखती है कि उस पैसे के ख़र्च या निवेश से उनके जीवन में क्या बदलाव

आया है। जानकारों का कहना है कि इन प्रयोगों परिणाम बहुत उत्साहजनक नहीं रहे हैं। इन सब बातों पर भी विचार ज़रूरी है।

अंत में, इतना ही कि, छोटे सपने देखना अपराध है, लेकिन असंभव बड़े सपने 'दिखाना' राजनीति।000 (डेली हिंदी मिलाप, 31/01/2019)

फैसले पलटने का चलन

जम्मू-कश्मीर की पिछली सरकार ने उस राज्य में महिलाओं को संपत्ति के पंजीकरण का शुल्क अदा करने से छूट देने का ऐलान किया था। यह वही सरकार थी जिसमें पीडीपी के साथ भाजपा की साझीदारी थी और जिसका नेतृत्व महबूबा मुफ़्ती कर रही थीं। राज्यपाल सत्यपाल मालिक ने उस सरकार के इस फैसले को पलट दिया है। गौर तलब है कि वर्तमान में जम्मू-कश्मीर में कोई चुनी हुई सरकार नहीं है। राज्यपाल के माध्यम से राष्ट्रपति शासन है। इसे केंद्र का शासन भी कहा जा सकता है। इसलिए राज्यपाल के फैसलों को केंद्र सरकार के फैसलों के रूप में भी देखा जा सकता है। यों अगर यह समझा जाए कि राज्य की महिलाओं को पिछली राज्य सरकार द्वारा दी गई छूट अब केंद्र सरकार के इशारे पर रद्द कर दी गई है, तो शायद क्छ ज्यादती न होगी।

वैसे पिछली सरकारों के फैसलों को पलटने का भारतीय राजनीति में चलन कोई चौकने वाली या नई बात नहीं है। पर यह वांछनीय है या नहीं? इस बारे में कोई एक उत्तर नहीं दिया जा सकता। फिर भी यह तो कहा ही जा सकता है कि फैसले पलटना या नाम पलटना या कानून पलटना आम और सहज नहीं होना चाहिए। इसके लिए कोई तो कसोटी होनी चाहिए। तािक पािट्यों और नेताओं की आपनी खुन्नस और अपनी सनक का खािमयाजा जन साधारण को न भुगतना पड़े। यह किसी से छिपा नहीं है कि बह्दलीय चुनावी राजनीति में शािमल पािट्यों की आपसी खींचतान में आम तौर पर लोकतंत्र और लोकहित ही नहीं, देशभिक्त और देशद्रोह तक की मनमानी पिरभाषाएँ और व्याख्याएँ गढ़ी जाती रहती हैं। इसके नमूने इकट्ठे किए जाएँ तो शायद कई शोधग्रंथ लिखे जा सकते हैं। इसलिए किसी सरकार यह कहना भर पिछली सरकारों के फैसलों को पलटने के लिए काफी नहीं माना जा सकता कि ऐसा करना लोकहित में ज़रूरी था। यही कारण है कि राज्यपाल सत्यपाल मलिक के आदेश पर महबूबा मुफ़्ती बिफर उठीं। उनके इस आरोप को हवा में उड़ाना लोकतांत्रिक नहीं होगा कि महिलाओं को संपत्ति के पंजीकरण का शुल्क अदा करने से छूट देने के पिछली सरकार के फैसले को पलटने के जम्मू कश्मीर के राज्यपाल सत्यपाल मलिक के कदम से महिला सशक्तीकरण की दिशा में पीडीपी के प्रयासों की अनदेखी की गई है। उन्होंने असमंजस प्रकट किया है कि समझ नहीं आता कि महिलाओं के नाम पर संपत्ति की रजिस्ट्री में कोई स्टांप ड्यूटी नहीं लेने के उनकी सरकार के ऐतिहासिक फैसले को क्यों पलट दिया गया। इसके साथ ही उन्होंने केंद्र की 'बेटी बचाओ, बेटी पढ़ाओ' योजना को भी 'बेमतलब की' बताया।

इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि आगामी चुनाव पर नज़र होने के कारण ही पूर्व मुख्यमंत्री महोदया की प्रतिक्रिया इतनी उग्र हैं। लेकिन इस विषय पर दलगत राजनीति से ऊपर उठकर सोचने की ज़रूरत है। यह नहीं भूलना चाहिए कि कश्मीरी जनता को यह लगता है कि भारत संघ का सदस्य होने के कारण राज्य में केंद्र सरकार का हस्तक्षेप है। उन्हें लगता है कि राज्य को अपने लिए योजनाएँ बनाने और फैसले लेने की छूट नहीं है। माना कि यह उनका भ्रम हो सकता है। लेकिन किसी प्रतिनिधि सरकार के फैसले को इस तरह पलटना भी तो इस भ्रम को गहराने जैसा ही है न? यह संभव है कि पिछली सरकार का निर्णय गलत रहा हो। लेकिन उसे पलटने के लिए अगली किसी प्रतिनिधि सरकार के आने की प्रतीक्षा की जानी चाहिए थी। तब उस फैसले की समीक्षा करके उसे पलटना लोकतंत्र के अनुकूल होता। राज्यपाल चुने हुए जनप्रतिनिधि नहीं होते हैं तथा उन्हें आम तौर पर केंद्र सरकार का हित साधने वाला ही समझा जाता है। इसलिए चुनी हुई सरकार के फैसले को राज्यपाल का पलटना बहुत काम्य नहीं कहा जा सकता। इससे बचा जा सकता था। 000

बंगाल से बजा बिगुल

लोकसभा चुनावों की औपचारिक घोषणा अभी तक नहीं हुई है। लेकिन केंद्र में सतारूढ़ भाजपा और सत्ता पाने के लिए लालायित विपक्षी दलों ने अपने-अपने स्तर पर चुनावी बिगुल बजा दिया है। इस बार के चुनाव में बंगाल का महत्व कुछ अधिक रहता दिखाई दे रहा है। एक ओर बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी के आमंत्रण पर महागठबंधन की संभावनाओं को खँगालने के लिए कोलकाता में 22 दलों के नेता जुटे। दूसरी ओर उसके पीछे-पीछे भाजपा ने भी बंगाल से ही अपने चुनाव प्रचार का शंख फूँक दिया। अमित शाह ने मालदा के पास शाहपुर में एक रैली के माध्यम से 'गणतंत्र बचाओ यात्रा' का श्रीगणेश किया। भाजपा और तृणमूल कांग्रेस दोनों ही भाषाई शिष्टाचार की सीमाओं को लाँघने में भी कोई संकोच करते दिखाई नहीं दे रहे हैं। लेकिन दोनों ही स्वयं को संस्कृति के सबसे बड़े रखवाले के रूप में पेश कर रहे हैं। 'अंतिम यात्रा' और 'पागल हो गए हैं' जैसे वाक-युद्ध को देख-सुनकर मतदाता सिर धुन रहा है!

यह किसी से छिपा नहीं है कि जब तक कोई चमत्कार न हो जाए, इस बार तब तक भाजपा के लिए उत्तर प्रदेश की अपनी पिछली शानदार विजय के इतिहास को दोहराना संभव नहीं है। छतीसगढ़, राजस्थान और मध्य प्रदेश के विधानसभा चुनाव के नतीजे ही नहीं, ताजा सर्वेक्षणों से भी यह पता चलता है कि भाजपा का आधार उत्तर से खिसक रहा है। इसकी भरपाई करने के उद्देश्य से वह दक्षिण और पूर्व भारत की ओर आशाभरी दृष्टि से देख रही है। बंगाल की जमीन उसे इस दृष्टि से काफी उपजाऊ लगती है कि वहाँ लंबे समय से सत्तासीन तृणमूल कांग्रेस के प्रति मतदाता के असंतोष को भुनाया जा सकता है। यह बात अलग है कि देश के ज्यादातर राज्यों में भाजपा सत्तासीन है और विपक्षी पार्टियाँ वहाँ भाजपा की सरकारों के प्रति राज्य की जनता के असंतोष को भुनाने को लालायित भी है और आश्वस्त भी। इसे जानते हुए ही भाजपा ने पूरे तामझाम के साथ बंगाल का रुख किया है। रथयात्रा पर प्रतिबंध को भी वह अपने पक्ष में सहानुभूति के लिए इस्तेमाल करना चाहेगी। उसका लक्ष्य पश्चिम बंगाल की 42 में से 22 लोकसभा सीटें हासिल करने का है, तािक उत्तर के नुकसान की कुछ तो भरपाई हो सके।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भाजपा लोकतंत्र के कंबल में लपेटकर धर्म और संप्रदाय की राजनीति भी खेल रही है। नागरिकता संशोधन विधेयक को लेकर यद्यपि पूर्वोत्तर की भवें काफी तनी हुई हैं, लेकिन भाजपा इसका सहारा लेकर बंगाल में बांग्लादेश से आए हिंदू शरणार्थियों को अपने पाले में लाना चाहती है इसीलिए उसने यह भी वादा किया है कि अगर उसकी सरकार आती है तो इस रास्ते आने वाले मुस्लिम शरणार्थियों की आमद पर पूरी तरह रोक लगाएगी। कहना न होगा कि वे ममता बनर्जी के वोटर हैं।

नागरिकता संशोधन विधेयक के बहाने खेला जा रहा भारतीय जनता पार्टी का यह दाँव काफी जोखिमभरा है। तृणमूल कांग्रेस मतदाताओं को यह समझाने का प्रयास करेगी कि इसके कारण सांप्रदायिक तनाव पैदा होने तथा बंगाल में बांग्लादेशी घुसपैठियों की बाढ़ आने का बड़ा डर है। इस डर का दोहन करने में वह कोई कोर-कसर नहीं छोड़ेगी। अतः भाजपा का यह पाँसा उल्टा भी पड़ सकता है। शायद इसीलिए भाजपा अध्यक्ष ने अपने भाषण में जोर देकर यह कहा कि इस चुनाव में बंगाल की जनता को यह निर्णय करना है कि वह 'संस्कृति को बचाने वाली' भारतीय जनता पार्टी को चुनती है या 'संस्कृति को मिटाने वाली' तृणमूल कांग्रेस को। बंगाली सेंटीमेंट को उभारने के लिए वे सुभाषचंद्र

बोस और आजादी के बाद कला और संस्कृति आदि हर क्षेत्र में बंगाल की अग्रणी भूमिका की भी चर्चा करना नहीं भूले।

बंगाल के प्रति भाजपा की गंभीरता का अंदाज़ इससे भी लगाया जा सकता है कि अभी बंगाल में स्वयं प्रधानमंत्री की भी कई जनसभाएँ होनी हैं। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 26/01/2019)

कायाकल्प की आशा

... तो आखिर प्रियंका गांधी नेपथ्य से निकल कर सिक्रय राजनीति के मंच पर उतर ही गईं। लंबे समय से इसके बारे में अनुमान लगाए जा रहे थे। यह तो सबको मालूम था कि एक न एक दिन नेहरु-गांधी 'परिवार' की इस 'प्रतिभा' को सामने आना ही है, लेकिन समय तय नहीं था। लोकसभा चुनाव के ऐन पहले उन्हें महासचिव के रूप में पूर्वी उत्तर प्रदेश की कमान सींपकर कांग्रेस ने देश की जनता को, अपने कार्यकर्ताओं को और अन्य राजनैतिक दलों को यह संदेश दिया है कि भारतीय जनता पार्टी के हमलों और संभावित गठबंधनों के उपेक्षापूर्ण रवैये का तोड़ पार्टी के पास है। इसीलिए इस घोषणा से जितनी बड़ी खुशी की लहर कांग्रेस के कार्यकर्ताओं में दौड़ पड़ी, उससे कहीं अधिक चिंता भाजपा के शीर्ष नेतृत्व में व्यापती दिखाई दी।

एक राष्ट्रीय राजनैतिक दल यदि अपने संगठन में कुछ हेर-फेर करता है या चुनाव की चुनौती का सामना करने के लिए महासचिवों की नियुक्ति करता है, उनका कार्यक्षेत्र तय करता है, तो दूसरे राष्ट्रीय राजनैतिक दल को इससे क्यों और क्या कष्ट हो सकता है? यह नियुक्ति प्रियंका गांधी के अलावा अन्य किसी की भी हुई होती, तो शायद भाजपा उधर ध्यान भी देने वाली नहीं थी। लेकिन प्रियंका गांधी की उपेक्षा संभव नहीं। वे जहाँ एक ओर कांग्रेस के लिए कायाकल्प की महान औषि सिद्ध हो सकती हैं, वहीं वर्तमान राजनीति के रोज-रोज के उबाऊ नाटक से खीझी और थकी हुई जनता के लिए भी आशा की जीवनदायी बयार बन सकती हैं।

कांग्रेस और भाजपा ही नहीं, इस देश के मतदाता के मिजाज को थोड़ा भी समझने वाला हर व्यक्ति जानता है कि भारत की जनता आज भी बड़ी हद तक प्रतीकों और छवियों की पूजा करती है। अगर उसने प्रियंका को पंडित जवाहर लाल नेहरु और इंदिरा गांधी के प्रतीक और छवि के रूप में स्वीकार कर लिया तो उसके सम्मोहन को तोड़ना आसान नहीं होगा। यही कारण है कि प्रियंका गांधी के सिक्रय राजनीति में अवतार की पहली सूचना मिलते ही भाजपा के कान खड़े हो गए और उसने हर ओर से परिवार-परिवार का शोर उठाना शुरू कर दिया। बेशक, प्रियंका गांधी की शक्ति भी उनका परिवार ही है और दुर्बलता भी!

फिर भी कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी के इस फैसले को राजनैतिक हलकों में निर्णायक दाँव समझा जा रहा है जो बेहद सही मौके पर चला गया है। आशा की जा रही है कि इससे कांग्रेस उत्तर प्रदेश में ही नहीं, पूरे देश में एक बार फिर उठ खड़ी होगी। बहुत संभव था कि अभी कुछ और वक़्त वे नेपथ्य में बितातीं, लेकिन उत्तर प्रदेश में सपा और बसपा के गठबंधन ने कांग्रेस से दूरी बरतकर अचानक उसके सामने अस्तित्व का संकट खड़ा कर दिया। दक्षिण में चल रही फेडरल फ्रंट की मुहिम में भी भाजपा और कांग्रेस दोनों को अस्वीकार किए जाने से कष्ट और बढ़ गया। इक्का-दुक्का नेताओं द्वारा राहूल गांधी के प्रशस्ति गायन के बावजूद ममता बनर्जी के प्रस्तावित गठबंधन में भी कांग्रेस को आगे आकर खेलने का मौका नहीं दिखा। इससे ऐसा लगने लगा कि एक राष्ट्रीय दल के रूप में कांग्रेस पिछड़ रही है और प्रधानमंत्री पद की दावेदारी तो दूर दूसरे दल उसके लिए सम्मानजनक सीट-बँटवारे तक के लिए तैयार नहीं हैं।

यह कहना गलत न होगा कि इस परिदृश्य में कांग्रेस के सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया था। उसी का उत्तर देने के लिए उसने यह सोची-समझी चाल चली है जो उसके देशव्यापी कायाकल्प का आधार बन सकती है। इसीलिए कांग्रेस अध्यक्ष के इस बयान को भावी रणनीति की उद्घोषणा माना जाना चाहिए कि कांग्रेस आगामी चुनाव अपने दम पर और अगली पंक्ति में रहकर लड़ेगी। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 25/01/2019)

अराजकता का डर या चाटुकारिता की संस्कृति?

केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री ने मीडिया से बात करते हुए जो यह कहा कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी का कोई विकल्प नहीं है, उसे आगामी चुनाव के प्रसंगवश अति उत्साह में दिया गया अतिशयोक्तिपूर्ण वक्तव्य माना जा सकता है। लोगों को प्रभावित करने के लिए अविश्वसनीय स्तर तक की अतिशयोक्ति करना राजनैतिक भाषण कला का सर्व स्वीकृत सिद्धांत है। लेकिन अगर किसी सतारूढ़ नायक के समर्थक सुना सुना कर ऐसी स्तुति करने लगें कि वह तीन लोक से न्यारा है तो उसे सावधान हो जाना चाहिए। इतना ही नहीं तब तो और भी सँभल जाना चाहिए जब विरुदावली गाने वाले यह कहने लगें कि हमारे नायक के अभाव में सारी व्यवस्था ही तहस नहस हो जाएगी।

यह दरबारी संस्कृति खास तौर से लोकतंत्र के लिए बेहद खतरनाक होती है। इसे चाटुकारिता ही कहा जाएगा कि स्वामीभिक्ति की झोंक में कोई मंत्री लगभग धमकी के से अंदाज़ में यह दावा करे कि उसकी पार्टी के कथित विकल्पहीन महानायक की अनुपस्थिति में देश में 'अराजकता' फैल जाएगी। जब लोकतंत्र में ऐसे बयान आने लगें तो देश को तो सावधान होना ही चाहिए, सत्ता को भी सँभल जाना चाहिए क्योंकि चाटुकारिता का चरम प्रदर्शन सत्ता के भावी पतन का द्योतक हो सकता है। इस बारे में गोस्वामी तुलसीदास का यह नीतिवचन याद रखने जैसी चीज़ है – 'सचिव, बैद, गुरु तीनि जौं, प्रिय बोलिहं भय,आस/ राज, धर्म, तन तीनि कर, होई बेगिही नास।' (रामचरित मानस, सुंदरकांड, दोहा-37)।

अभिप्राय यह है कि लोकतंत्र में किसी राष्ट्रनायक का चाटुकारों से घिर जाना न तो उसके अपने स्वास्थ्य के लिए अच्छा लक्षण है और न ही देश के लिए। इसमें संदेह नहीं कि देश को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की सेवाएँ मिलना कल्याणकारी और वांछनीय हो सकता है; लेकिन जानकारों का कहना है कि उन्हें 'चाटुकारिता की वाचाल संस्कृति' से खुद को बचाना चाहिए। अन्यथा उनके इन अपनों की अहंकार भरी हुंकारें उनके बहुत से चाहने वालों को दूर जाने को मजबूर भी कर सकती है।

भारत के चुनावी लोकतंत्र का इतिहास गवाह है कि जब जब किसी सता ने स्वयं को जनता से बड़ा मानने की भूल की है, तब तब मतदाता ने उसे धूल चटाई है। आपातकाल का वह ज़माना भारतीय जनता पार्टी को याद होगा जब चाटुकारिता की वाचाल संस्कृति ने 'इंदिरा' और 'इंडिया' को इस तरह एक कर दिया था कि यह कहा जाने लगा था कि इंदिरा जी के बिना इंडिया का कोई वर्तमान और भविष्य हो ही नहीं सकता तथा इसके जवाब में उनका अखंड राजपाट पूरी तरह खंडित हो गया था। अगर न भी याद हो तो बस पिछले महीने के तीन विधानसभाओं के चुनावनतीजे तो ज़रूर याद होंगे जिनका सबसे पहला संदेश यही था कि लोकतंत्र में जनता अपने प्रतिनिधियों के अहंकार को बर्दाश्त नहीं करती। इसलिए देखना ज़रूरी है कि जिस विनम्नता के साथ प्रधानमंत्री महोदय स्वयं को भारतीय जनता का प्रथम सेवक कहते आए हैं, उनके मंत्री जनता को अराजकता का डर दिखाकर उसे अपने अहंकार द्वारा पराजित न कर दें। माना कि चुनाव के मैदान में उनके समक्ष 'एक' विकल्प के रूप में कोई चेहरा फिलहाल खड़ा होता दिखाई नहीं देता, लेकिन इसका यह अर्थ निकालना कि यदि उन्हें पुनः सत्ता न मिली तो देश में अराजकता फैल जाएगी, पूरी तरह गैर ज़िम्मेदारी पूर्ण है।

जिस पार्टी और सरकार में बात बात पर लोगों के माथे पर 'देशद्रोह' का लेबल चिपकाने का चलन हो, उसके हिसाब से तो अराजकता की ऐसी भविष्यवाणी को 'संगीन अपराध' माना जाना चाहिए। चंद वोटों के लिए इस तरह भयभीत करने वाली बयानबाजी को न तो लोकतंत्र के लिए हितकर माना जा सकता है और न ही किसी राजनैतिक दल के लिए। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 23/01/2019)

जोर-आजमाइश से पहले शक्ति-प्रदर्शन

कोलकाता के ब्रिगेड परेड मैदान की महासभा संदेश दे गई कि लोकतंत्र का आगामी महादंगल दिलचस्प होने वाला है। वह दिन दूर नहीं जब दिल्ली फतह करने की खातिर आम चुनाव के मैदान में दिग्गज भिड़ेंगे। असली ज़ोर-आजमाइश से पहले सब अपने-अपने पहलवानों को एकजुट करने में लगे हैं। सामने वाले के हौसले पस्त करने के लिए यह भी ज़रूरी होता है कि अपने पहलवानों के डौले-शौले दिखाए जाएँ। इससे अपना मनोबल बढ़ता है और सामने वाले का घट सकता है। इसलिए रैलियाँ चाहे विपक्ष की हों या सतारूढ़ दल की, इस समय उनका लक्ष्य अपनी-अपनी शक्ति का दिखावा करके चुनावी माहौल के लिए हवाओं को गरम करना है।

कोलकाता में ममता बनर्जी दाँत पीस-पीस कर भाजपा की एक्स्पायरी डेट बता रही हों या केरल में प्रधानमंत्री महोदय मुट्ठियाँ भींच-भींच कर दहाड़ रहे हों, फिलहाल जनता से सब डरे हुए हैं। जाने किसका तंबू उखाड़ दे या न जाने किसके सिर सेहरा बाँध दे? सारे दिग्गज पहलवान इतिहास से इतना तो जान ही चुके हैं कि भारत की जनता का सिर कभी भी किसी भी मुद्दे पर फिर सकता है। यह चाहे तो प्याज-टमाटर की खातिर फाँसी चढ़ा दे और न चाहे तो खुद अपना खून भी माफ कर दे। इसीलिए सारे पहलवान देश भर में दौड़े फिर रहे हैं।

पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री और तृणमूल कांग्रेस की मुखिया ममता बनर्जी के शक्ति-प्रदर्शन को इस अर्थ में सफल कहा जाएगा कि कई राज्यों के मुख्यमंत्री, पूर्व मुख्यमंत्री समेत कुल 22 राजनीतिक दलों के बड़े नेताओं ने एक मंच पर उपस्थित होकर केंद्र से प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की सरकार को हटाने का संकल्प व्यक्त किया। संकल्प के सहारे बड़े-बड़े लक्ष्य प्राप्त किए जाने की कहानियाँ मिलती हैं। पर यह तभी हो पाता है जब समस्याओं के 'जाल' में फंसे सारे 'कबूतर' एक ही दिशा में उड़ें। इसके लिए एक दिशा में ले जाने वाला 'मुखिया कबूतर' भी चाहिए होता है। प्रस्तावित महागठबंधन की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि 'मुखिया कबूतर' नदारद है! इसीलिए ममता बनर्जी को कहना पड़ रहा है कि प्रधानमंत्री कौन होगा, यह बाद में तय कर लेंगे। यह कहना उनकी मजबूरी है क्योंकि अगर वे अपनी दावेदारी ठोकेंगी तो उनके साथ आ सकनेवाला सबसे बड़ा दल कांग्रेस बिदक जाएगा – राहुल गांधी क्या इतनी मेहनत-मशक्कत बिना प्रयोजन करते फिर रहे हैं! ममता के आयोजन में राहुल और सोनिया दोनों की अनुपस्थिति सनसनीखेज भले न हो, मानीखेज जरूर है। उम्मीद है कि जल्दी ही चंद्रबाबू नायुडु और अरविंद केजरीवाल भी अपने-अपने राज्यों में ममता बनर्जी जैसी रैली करके अपनी ताकत दिखाने वाले हैं। यही नहीं, मायावती भी दूसरे राज्यों की मजबूत छोटी पार्टियों से गठबंधन करने की तैयारी में हैं। इन सबकी भी तो मुखिया पद पर दावेदारी है न!

एक मुखिया के अभाव में यह आशंका अधिक है कि राष्ट्रीय स्तर पर विपक्ष की एकजुटता कहीं सचमुच केवल 'प्रदर्शन' बनकर न रह जाए। उत्तर प्रदेश के सपा-बसपा गठबंधन से इसका संकेत पहले ही मिल भी चुका है कि क्षेत्रीय छत्रपतियों की पेशवाई में अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग गठबंधन उभर सकते हैं। तेलंगाना के मुख्यमंत्री केसीआर के संघीय मोर्चे के प्रयास भी इसी दिशा में बढ़ रहे हैं। कई दलों की भाजपा के साथ-साथ कांग्रेस से भी दूर दिखने की चाहत भी विपक्ष को उस तरह एक नहीं होने दे रही है कि हर जगह टक्कर आमने-सामने की हो सके। इसका न्कसान विपक्ष को ही तो होना है। स्वयं कांग्रेस की रुचि भी महागठबंधन की तुलना में राज्य आधारित अलग-

अलग गठबंधनों में अधिक दिख रही है। इसीलिए जानकारों का कहना है कि विपक्ष का लक्ष्य भले ही साफ है कि केंद्र की सत्ता से मोदी सरकार को हटाना है; लेकिन कैसे हटाना है- यह स्पष्ट नहीं है।000

(डेली हिंदी मिलाप, 22/01/2019)

साझी पीड़ा और संघीय मोर्चा

तेलंगाना के मुख्यमंत्री के चंद्रशेखर राव का राष्ट्रीय राजनीति में सार्थक हस्तक्षेप का संकल्प विभिन्न क्षेत्रीय दलों से उनकी मुलाकातों के बाद अब अगले लक्ष्य की ओर बढ़ता दिखाई दे रहा है। इसके लिए उन्होंने तेलुगु राज्यों के साझे हिट के विचार को सामने रखा है। यह तो जगजाहिर है कि तेलंगाना राष्ट्र समिति और तेलुगु देशम पार्टी के बीच छत्तीस का आँकड़ा है। उनका एकसाथ आना संभव नहीं। इसलिए तेलगु राज्यों की भलाई के लिए एकसाथ संघर्ष के नाम पर तेरास ने वाईएसआर कांग्रेस को अपने पाले में लेने का पैंतरा चला है, जो कामयाब होता दिखाई दे रहा है। तेरास के कार्यकारी अध्यक्ष केटीआर का यह कहना बहुत अर्थपूर्ण है कि आंध्र प्रदेश के लिए विशेष राज्य के दर्जे के मामले में उनकी पार्टी वाईएसआर कांग्रेस पार्टी के आंदोलन का पूरा समर्थन करेगी और इसके लिए संसद के दोनों सदनों में तेरास के सांसद वाईएसआरकांग्रेस का समर्थन करेंगे और इसको लेकर किसी तरह का संदेह व्यक्त करने की जरूरत नहीं है। वास्तव में यही वह ज़मीन है जिसपर संघीय मोर्चा उसी तरह अस्तित्व में आ सकता है जिस तरह उत्तर प्रदेश में सपा-बसपा-गठबंधन।

आंध्र प्रदेश विधानसभा में प्रतिपक्ष के नेता एवं वाईएसआर कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष वाईएस जगन मोहन रेड्डी से मुलाक़ात के बाद केटीआर ने यह भी ध्यान दिलाया कि टीआरएस प्रमुख केसीआर देश की राजनीति में बदलाव के लिए गैर-भाजपा व गैर-कांग्रेसी मोर्चा गठित करने और अधिकारों के मामले में राज्यों के साथ हो रहे अन्याय को रोकने के लिए देश के सभी राजनीतिक दलों के नेताओं से मुलाकात कर उनका समर्थन जुटा रहे हैं। जगन भी आंध्र प्रदेश के विकास के प्रति केंद्र के उपेक्षापूर्ण रवैये को लेकर असंतुष्ट और मुखर दिखे। इस मुद्दे पर उनका फंट में शामिल होना अचरजकारी नहीं होगा। वे मानते हैं कि केंद्र के सौतेले व्यवहार के कारण आंध्र के साथ अन्याय हो रहा है क्योंकि संसद में दिए गए आश्वासनों को अब तक पूरा नहीं किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि फेडरल फंट की स्थापना के लिए यह मुद्दा मजबूत आधार सिद्ध हो सकता है। केंद्र के सौतेले व्यवहार से पीड़ित राज्य अपनी साझी पीड़ा के सहारे एक हो सकते हैं, इसे केसीआर पहचानते हैं। जगन ने भी यह दोहराया है कि आगामी लोकसभा चुनाव के लिए देश के ऐसे सभी राज्यों का साथ आना जरूरी है। केंद्र में अन्य राज्यों के सांसदों की संख्या बढ़े, तो ही केंद्र के मनमाने रवैये पर नकेल कसना संभव है।

राज्यों के विकास में उभर रही विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए संघीय मोर्चे की ज़रूरत बताते हुए केटीआर ने देश की राजनीति में गुणात्मक बदलाव की भी बात कही। उन्होंने विश्वास व्यक्त किया कि समान विचारधारा वाली पार्टियाँ एक मंच पर आएँगी। भाजपा के निरंकुश आचरण के कारण घुटन महसूस कर रहे क्षेत्रीय दलों का इस प्रकार निकट आना काफी तगड़ी चुनौती बन सकता है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

तेरास और वाईएसआर कांग्रेस की निकटता इसलिए और भी महत्वपूर्ण हो जाती है कि यद्यपि तेलंगाना में विधानसभा चुनाव हो चुके हैं, लेकिन आंध्र प्रदेश में लोकसभा चुनावों के साथ ही विधानसभा चुनाव भी होंगे। आंध्र प्रदेश में सतारूढ़ तेलुगु देशम पार्टी यद्यपि वर्तमान में कांग्रेस के साथ गठबंधन कर चुकी है परंतु कुछ महीने पहले तक वह केंद्र की भाजपा सरकार के साथ थी। इसलिए केसीआर के भाजपा और कांग्रेस दोनों से रहित मोर्चे में उसका आना

असंभव है। इसे देखते हुए केटीआर और जगन ने लोकसभा ही नहीं, विधानसभा चुनावों के संभव राजनीतिक समीकरणों पर भी बात की है। दोनों ही राज्य में तेदेपा की सरकार को उखाड़ फेंकने के लिए कृतसंकल्प हैं। अतः साझी पीड़ा की ज़मीन पर इन दो युवा तेलुगु नेताओं का मिलन प्रस्तावित संघीय मोर्चे के लिए शुभंकर सिद्ध हो सकता है।000

(डेली हिंदी मिलाप, 19/01/2019)

मजबूत बनाम मजबूर

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने भारतीय जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक को संबोधित करते हुए ज़ोर देकर यह बात कही कि 'देश को इस समय मज़बूत सरकार की ज़रूरत है। लेकिन विपक्षी दल मज़बूर सरकार देने की कोशिश कर रहे हैं।' गौरतलब है कि कभी कांग्रेस सरकार के जमाने में भी इसी लहजे में मजबूत सेंटर की ज़रूरत बताई जाया करती थी। दरअसल, देश की जनता न तो तब रोज-रोज के चुनावों के पक्ष में थी; और न अब है। इसलिए 'मजबूत' और 'मजबूर' का यह द्वंद्व उसके मत को प्रभावित करने मंत्र सिद्ध हो सकता है।

स्मरणीय है कि जब भी राष्ट्रीय राजनीति में तीसरे मोर्चे या गठबंधन को विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तब हर बार इस विचार को 'स्थायित्व' और 'दृढ़ता' के स्थापित नैरेटिव से टकराना पड़ता है। बड़ी हद तक परस्पर विरोधी विचारधारा वाले दलों का एक साथ आना आपसी पूरकता के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि किसी भी समय साथी को पटखनी देने की चालाकी से भरे ऐसे समूह के रूप में देखा जाता है जिसके सदस्य अस्तित्व बचाने की लाचारी में साथ चल रहे हों। इसलिए यदि यह मंत्र लोगों को मोह ले तो विस्मय नहीं होना चाहिए।

इस द्वंद्व को आगे बढ़ाते हुए प्रधानमंत्री ने विपक्ष को भ्रष्टाचार और भाईभतीजावाद का पोषक कहते हुए अपनी पार्टी के संकल्प 'सबका साथ, सबका विकास' को दोहराया। कहना न होगा कि जो सत्ता के बाहर हैं, उनपर भ्रष्टाचार और भाईभतीजावाद के आरोप मतदाता के मन को छूनेवाले नहीं हैं। चुनौती तो सत्तारूढ़ पक्ष के समक्ष है कि वह रोज-रोज लगते दागों से अपनी चुनरी को बचाए (लागा चुनरी में दाग छिपाऊँ कैसे; घर जाऊँ कैसे?!) तभी सबका साथ मिल पाएगा।

जानकारों का यह भी मानना है कि भाजपा नेतृत्व को इस बात का अहसास है कि मतदाता तो बाद की बात है, इस समय उसका कार्यकर्ता भी अपने प्रतिनिधियों की कार्यशैली से बहुत प्रसन्न नहीं है। इसिलए पार्टी शायद पुरानी चुनरी को नए सिरे से रंगने के भी फिराक में है। अर्थात सौम्य हिंदुत्व का रंग। अटलिबहारी वाजपेयी इसीलिए आजकल ज़्यादा याद आने लगे हैं। हाशिये पर धकेले जा चुके लालकृष्ण आडवाणी के प्रति भी सम्मान अकारण नहीं उमड़ा पड़ रहा है। मुरलीमनोहर जोशी को तो नरेंद्र मोदी ने अपने भाषण के आरंभ में ही 'राजनीति और विद्वता का संगम' कहकर आदर दिया। इसके पीछे उन आशंकाओं को निर्मूल करने की नीति हो सकती है जिनके अनुसार आगामी चुनाव में स्पष्ट बहुमत न मिलने की स्थिति में भाजपा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ अन्य दलों को मोदी की तुलना में अधिक स्वीकार्य किसी दूसरे नेता की तलाश में हैं। वैसे स्वयं नितिन गडकरी के नरेंद्र मोदी को चुनाव का चेहरा घोषित करने से फिलहाल यह विचार खुद ही स्थिगत हो गया है।

आशा की जानी चाहिए कि सामान्य वर्ग में दिया गया 10 प्रतिशत आरक्षण भाजपा को 'सबका साथ' दिला सकेगा। लेकिन डर यह भी है कि इस कारण दूसरा वोट न खिसक जाए। इसलिए स्वयं प्रधानमंत्री ने अपने कार्यकर्ताओं का मनोबल बढ़ाने के लिए बार-बार यह आश्वासन भी दिया कि इससे एससी-एसटी और ओबीसी को मिलने वाले आरक्षण कोटे पर किसी तरह का असर नहीं होगा। कोई पार्टी या गठबंधन उन वोटों को न काट ले, इस वास्ते भी सौम्य

और उदार दिखना भाजपा के लिए ज़रूरी हो गया है। गाँव के किसानों और शहर के नौकरीपेशा वर्ग से लेकर महिलाओं और अल्पसंख्यकों तक को साधने के लिए दिन-ब-दिन जिस तरह की घोषणाएँ सामने आ रही हैं, उन्हें देखते हुए इतना तो कहा ही जा सकता है कि विपक्ष के लिए सता के पनघट की डगर आसान नहीं होगी। फिर, कुंभ और अयोध्या भी तो हैं!000

(डेली हिंदी मिलाप, 18/01/2019)

सपा-बसपा गठबंधन

लोकसभा चुनाव-2019 में भारतीय जनता पार्टी को कम-से-कम उत्तर प्रदेश में अपनी ओर से जोरदार चुनौती देने की इच्छा से समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी के बीच चुनावी गठबंधन की घोषणा हो गई। इसके लिए दोनों को ही 'देश-हित' के 'महान' उद्देश्य के लिए आपसी तुच्छ दुश्मनी भुलानी पड़ी। इससे यह सत्य एक बार फिर प्रमाणित हुआ कि राजनीति में कोई दोस्ती-दुश्मनी शाश्वत नहीं होती। फिलहाल तो किसी भी भांति भाजपा को पराजित करने का सपनाअतीत की सब कड़वी यादों से बड़ा सिद्ध हुआ। गठबंधन के दोनों ही साझीदारों के अस्तित्व के लिए यह ज़रूरी भी था। इसीलिए मायावती और अखिलेश यादव दोनों ने बड़े दिल का परिचय देते हुए यह 'साहसिक' कदम उठाया है।

इसमें दो राय नहीं कि सपा और बसपा दोनों के राष्ट्रीय अध्यक्ष मोदी-राज और योगी-राज से खुन्नस खाए हुए हैं। लेकिन दोनों ही कांग्रेस के साथ भी चलना नहीं चाहते। इसलिए तीसरी ताकत के रूप में खुद को पेश करने के लिए दोनों को नजदीक आना पड़ा। अपने साझे दुश्मन की निशानदेही करते हुए अखिलेश यादव ने कार्यकर्ताओं से कहा है कि, 'भाजपा देश के लिए खतरा है। हमें भाजपा की हर साजिश को नाकाम करना है और आपसी भाईचारे को मजबूत करना है। भाजपा ने नौजवानों के सपनों को तोड़ा है। किसानों को धोखा दिया है। सरकारी कुनीतियों के चलते व्यापार चौपट हुआ है। भाजपा राज में नफरत और अपराध में बढ़त हुई है। अब समय आ गया है जब जनता को अपना आक्रोश जताने का शीघ्र मौका मिलेगा। भाजपा को अब सत्ता से बाहर जाना ही होगा। भाजपा ने देश को दुनिया के मुकाबले सड़क, अस्पताल, पढ़ाई, चिकित्सा सभी क्षेत्रों में पीछे कर दिया है। जनता भी भाजपा को 2019 में ही पीछे कर देगी।' इस वक्तव्य में इस गठबंधन के चुनावी घोषणापत्र के तमाम मुद्दों की ओर इशारा कर दिया गया है। स्पष्ट है कि कांग्रेस इसके निशाने पर नहीं है। रायबरेली और अमेठी को उसके लिए छोड़ना भी इसी का प्रतीक है।

इस गठबंधन से यह भी साफ है कि फिलहाल इन दोनों दलों के लिए उत्तर प्रदेश अहम है। पूरे देश में भाजपा और कांग्रेस के विकल्प के रूप में यह खुद को पेश नहीं कर रहा है। अब अगर कोई अन्य गठबंधन उभरेगा तो उत्तर प्रदेश में इसे ही नुकसान पहुंचाएगा। अतः इससे यह संकेत मिल रहा है कि राष्ट्रीय स्तर पर महागठबंधन के सपने देखने वाले क्षेत्रीय छत्रपतियों को भी इसी रास्ते चलते हुए आपसी समझौते करके अपनी-अपनी ज़मीन पर भाजपा और कांग्रेस को चुनौती देनी चाहिए। तेलंगाना के मुख्यमंत्री के. चंद्रशेखर राव, पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी और आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री नारा चंद्रबाबू नायडू को अखिल भारतीय तीसरा मोर्चा खड़ा करने के अपने प्रस्तावों पर पुनर्विचार करना होगा, क्योंकि उत्तर प्रदेश में अब उनके लिए कम जगह बची है।

अंततः जानकारों का कहना है कि सपा और बसपा के मतदाता भाजपा सरकार में उपेक्षित ही नहीं, बल्कि पीड़ित भी महसूस करते रहे हैं। दोनों दलों को नजदीक लाने में इस स्थिति का बड़ा हाथ है। इसलिए यह कहना गलत न होगा कि यह गठबंधन दोनों पार्टियों के लिए तो अपना अस्तित्व जताने का माध्यम है ही, इनके समर्थकों के लिए भी अपना राजनीतिक महत्व प्रमाणित करने का अवसर है। सपा के पास कुछ पिछड़े वर्गों का और बसपा के पास कुछ दिलित वर्गों का एक बड़ा हिस्सा ऐसा है जो इनका कट्टर समर्थक तो है ही, इनके कहने पर अन्य जगह भी

वोट दे सकता है। अगर गठबंधन के असर से सपा और बसपा के मत एक-दूसरे को मिल जाएँ (जो अब कठिन भी नहीं है) तो भाजपा के लिए परेशानी हो सकती है। भाजपा इन पिछड़े और दलित वोटों में सेंध लगाने के लिए क्या चाल चलेगी, यह देखना रोचक होगा। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 15/01/2019)

नई यात्रा पर तीन दिग्गज

मध्य प्रदेश, राजस्थान और छतीसगढ़ में कांग्रेस के हाथों विधानसभा चुनाव हारने के बाद, 2019 के लोकसभा चुनाव के मद्देनजर भारतीय जनता पार्टी में भीतरी बदलाव की शुरूआत करते हुए इन तीनों राज्यों के पूर्व मुख्यमंत्रियों को राष्ट्रीय उपाध्यक्ष बना दिया गया है। यह थोड़ा विचित्र लग सकता है कि ये तीनों ही दिग्गज नेता अलग-अलग अवसरों पर यह कहते रहे हैं कि राष्ट्रीय राजनीति में उतरने का कोई इरादा नहीं रखते। इसके बावजूद यह अनुमान सभी को था कि केंद्रीय नेतृत्व अब उन्हें प्रांतीय राजनीति से मुक्त करके संगठन के काम में लगाना चाहेगा। इसीलिए अपनी-अपनी विधान सभा सीट बचा पाने के बावजूद उन्हें सदन में पार्टी के नेता के रूप में पेश नहीं किया गया। राष्ट्रीय उपाध्यक्ष के रूप में उन्हें नई ज़िम्मेदारी पार्टी की दो-दिवसीय राष्ट्रीय परिषद की बैठक से ठीक पहले सौंपी गई। इससे यह संकेत भी मिलता है कि आगामी लोकसभा चुनाव की रणनीति तय करने में भी कुछ हद तक उनकी भूमिका रह सकती है।

अपने-अपने राज्यों में लंबा अनुभव प्राप्त कर चुके इन नेताओं को संगठन में लाने का एक अर्थ पराजय के लिए दंड भी हो सकता था। लेकिन ऐसा है नहीं। दरअसल, यह चुनाव भाजपा के लिए जीवन-मरण का रण होने वाला है और ये नियुक्तियाँ इसके लिए चाक-चौबंद मोर्चेबंदी का हिस्सा हैं। पार्टी की गंभीरता को भाजपा अध्यक्ष की इस घोषणा के आईने में साफ देखा जा सकता है कि 2019 का लोकसभा चुनाव 'दो विचारधाओं के बीच 'युद्ध' के समान है। वे इसे 'पानीपत का तीसरा युद्ध' मानते हैं जिसका असर सदियों तक होने वाला है और इसलिये इसे जीतना जरूरी है।

इसमें संदेह नहीं कि बतौर मुख्य मंत्री ये तीनों ही भारी भरकम नेता भाजपा की उस विचारधारा का प्रभावी तौर पर प्रतिनिधित्व करते रहे हैं, जिसका ज़िक्र करते हुए राष्ट्रीय परिषद की बैठक में भाजपा अध्यक्ष ने कहा है कि, '2019 का चुनाव वैचारिक युद्ध का चुनाव है। दो विचारधाराएं आमने सामने खड़ी हैं। 2019 का युद्ध सदियों तक असर छोड़ने वाला है और इसलिए मैं मानता हूं कि इसे जीतना बहुत महत्वपूर्ण है।' विपक्षी दलों के महागठबंधन के प्रयासों को ढकोसला बताते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि भाजपा गरीबों के कल्याण और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को आगे बढ़ा रही है जबिक विपक्षी दल केवल सत्ता के लिये साथ आ रहे हैं। अतः संगठन के स्तर पर इस बदलाव को गरीबों के कल्याण और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को आगे के कल्याण और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को आगे बढ़ाने की इसी नीति के 'प्रदर्शन' के रूप में देखना उचित होगा।

इसमें संदेह नहीं कि मध्यप्रदेश में ही रहने और और वहीं मरने की बात करने वाले शिवराज सिंह चौहान की अपनी जनिहतकारी योजनाओं और जनता से मधुर संबंध कायम कर लेने की क्षमता के कारण एक खास छिव है। उनकी इस छिव को 'गरीबों के कल्याण और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को आगे बढ़ाने' के को प्रचारित करने के लिए बखूबी इस्तेमाल किया जा सकता है। जानकारों के अनुसार उन्हें विदिशा से लोकसभा चुनाव में उतारा जा सकता है और इस तरह वे विदिशा की मौजूदा सांसद सुषमा स्वराज के उत्तराधिकारी के रूप में उभर सकते हैं जो पहले ही लोकसभा चुनाव न लड़ने की घोषणा कर चुकी हैं। इसी प्रकार, छतीसगढ़ में रमन सिंह को उनकी अपनी समझी जाने वाली राजनांदगांव सीट पर और राजस्थान में वसुंधरा राजे को झालावाड़ अथवा धौलपुर सीट पर लोकसभा चुनाव में उतारा जा सकता है जहाँ से उनकी जीत स्निश्चित समझी जाती है।

वस्तुतः, भाजपा के लिए यह समय किसी को दंडित करने और अप्रसन्न करने का नहीं, सबके पोटेंशियल को पहचान कर चुनाव में अधिकाधिक लाभ उठाने का है। कहना न होगा कि शिवराज सिंह चौहान, रमन सिंह और वसुंधरा राजे की नई नियुक्तियाँ इसी उद्देश्य से प्रेरित हैं।000

(डेली हिंदी मिलाप, 14/01/2019)

सवर्ण आरक्षण: हल या छल?

... तो केंद्र सरकार ने आर्थिक आधार पर आरक्षण की घोषणा कर ही दी। लोकसभा चुनाव से पहले केंद्रीय कैबिनेट ने यह क्रांतिकारी फैसला किया है कि आर्थिक रूप से पिछड़े सवर्णों को 10 प्रतिशत आरक्षण दिया जाएगा। खास बात यह है कि यह 50 प्रतिशत आरक्षण की सीमा के ऊपर होगा जिसके लिए संविधान संशोधन द्वारा जगह बनाई जाएगी।

गरीब सवर्णों के लिए सरकारी नौकरियों और शिक्षा संस्थानों में आर्थिक आधार पर आरक्षण लागू करने की इस तुरत-पुरत घोषणा को दिसंबर-2018 के विधानसभा चुनाव-परिणामों के संदर्भ में देखा जाना स्वाभाविक है। कल तक जो पार्टी कुछ प्रांतों की सरकारों द्वारा आरक्षण की सीमा के पार इस सुविधा को बढ़ाने के प्रयासों की घोर आलोचना कर रही थी, आज यदि वह स्वयं इसके लिए संविधान संशोधन की पेशकश कर रही है तो इसे पिछले नुकसान की भरपाई के लिए खेले गए दाँव की तरह देखा जाएगा ही। पाँच वर्ष के शासनकाल के अंतिम छोर पर इस प्रकार का निर्णय अगले चुनाव के अवसर पर सवर्णों को लुभाने के लिए दिया गया झुनझुना या चुनावी उपहार भी हो सकता है। इसे समस्या के हल के स्थान एक राजनैतिक छल भी कहा जा सकता है कि संसद के शीतकालीन सत्र के अंतिम दिन ऐसी सरकार इस निर्णय को लेकर आए जिसके पास संविधान में संशोधन करने योग्य बहुमत होना तो अलग बात, तीन तलाक जैसे अपने बिल को राज्यसभा में पास कराने योग्य शक्ति भी नहीं है।

इस तरह के तमाम आरोपों की गुंजाइश के बावजूद इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह घोषणा एक बार फिर आरक्षण की नीति-रीति पर पुनर्विचार और मंथन की प्रक्रिया को आरंभ कर सकती है। संसद और सर्वोच्च न्यायालय से मीडिया और सड़क की राजनीति तक इस विषय के विविध पहलुओं की पड़ताल होनी ही चाहिए, क्योंकि किसी भी विवेकशील लोकतंत्र में नीतियों की विवेचना और लक्ष्यों के पुनःनिर्धारण की गुंजाइश सदा रहती है। विवेचना ही लोकतंत्र को गतिशील बनाती है। अतः अगर इस घोषणा से एक स्वस्थ बहस का वातावरण भी खड़ा हो, तो इसे भी उपलब्धि ही माना जाएगा।

सर्वविदित है कि अतीत में समाज के कुछ समुदायों के साथ बरते गए कथित भेदभाव और वंचना के व्यवहार को भारतीय संविधान ने आरक्षण का आधार बनाया है तथा उसका प्रयोजन शिक्षा और नौकरी में उन्हें समुचित अवसर देकर सामाजिक न्याय की स्थापना करना रहा है। पिछड़ेपन को पिरभाषित करने के लिए अब तक गरीबी को आधार नहीं बनाया जा सका। इसी धारणा के कारण, 1990 में तत्कालीन सरकार द्वारा सवर्ण गरीबों को आरक्षण देने का प्रयास सर्वोच्च न्यायालय द्वारा निरस्त कर दिया गया था और आरक्षण पर 50 प्रतिशत की सीमा लागू कर दी गई थी। अब अगर आर्थिक आधार पर आरक्षण की इस नई पेशकश को संविधान में शामिल कर लिया जाता है, तो सामाजिक और आर्थिक मुद्दों का परस्पर घालमेल होने की पूरी संभावना है। इसलिए केवल सीमा बढ़ाए जाने से शायद काम नहीं चलेगा। संपूर्ण आरक्षण नीति पर नए सिरे से विचार करने की आवश्यकता है।

इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह व्यवस्था समाज में समरसता के स्थान पर नई खाई भी पैदा कर सकती है। एक ऐसे वक्त जब देश की अर्थव्यवस्था की हालत काफी खस्ता है और निजी तथा सरकारी दोनों ही क्षेत्रों में बेरोजगारी भयानक स्तर तक बढ़ी हुई है, यह संशोधन सीमित संसाधनों के लिए सवर्णों के अपने भीतर अधिक मारामारी की स्थिति भी खड़ी कर सकता है। जाटों, मराठों और पटेलों के जैसे अन्य आंदोलन भी नए सिरे से उभर सकते हैं जिनपर फिलहाल 50 प्रतिशत आरक्षण-सीमा का अंकुश लगा हुआ है। अतः आरक्षण नीति के स्वरूप पर पर नए सिरे से विचार करते हुए समाज के सभी समुदायों को आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रदान करने पर भी चर्चा होनी चाहिए। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 09/01/2019)

योगी का राजनैतिक अध्यातम

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के नववर्ष के बहुचर्चित साक्षात्कार के 2 दिन बाद योगी आदित्यनाथ का भी एक लंबा साक्षात्कार सामने आया है। भारत के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री योगी ने भले ही दिसंबर 2018 के चुनावों में भाजपा के स्टार प्रचारक के रूप में असफल रहे आक्रामक वक्तव्यों से अपने आलोचकों की संख्या बढ़ाई हो, उनका महत्व कम नहीं हुआ है।

विकास और अच्छे शासन की माला पर राममंदिर का मंत्र जपते हुए योगी अपनी तरह के निराले राजनैतिक अध्यातम के प्रतीक बने हुए हैं। रामराज्य के बारे में पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि, 'रामराज्य एक ऐसे राष्ट्र की कल्पना है, जहां लोगों के साथ जाति, धर्म, वंश या कुल के नाम पर भेदभाव न हो। ऐसी व्यवस्था में, जो भी कल्याणकारी योजनाएं हों, वे समाज के अंतिम छोर पर बैठे आखिरी आदमी तक को बिना किसी भेदभाव के मिलनी चाहिए। एक गरीब व्यक्ति को घर, शौचालय, बिजली, गैस-कनेक्शन और जीविका के साधन मिल जाना ही मेरे हिसाब से रामराज्य स्थापित करना है।' लेकिन रामराज्य की बड़ी सीमा यह है कि सीता तक के प्रति उसका न्याय अंधा होता है। कहीं इसीलिए तो उत्तरप्रदेश में मुठभेड़ों और भीड़-न्याय का बोलबाला नहीं है!

एक महंत मुख्यमंत्री के रूप में धर्म और पंथ का भेद बताते हुए वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ताओं के इस प्रिय आरोप को अपने ढंग से दुहराते हैं कि संघेतर तमाम बुद्धिजीवी अज्ञानी हैं तथा भारत के मूलभूत रूप से अपिरिचित हैं। योगी समझाते हैं कि धर्म एक शाश्वत व्यवस्था है, जो हमें हमारे कर्म, नीति, नैतिकता और सच्ची सेवा का बोध कराती है। अगर आप धर्म को इन मौलिक मूल्यों से अलग कर देंगे तो जीवन का कोई मतलब ही नहीं रह जाएगा। पंथ का मतलब एक अलग तरह की पूजा की परंपरा से है। कोई भी शासन व्यवस्था किसी एक तरह की पूजा-प्रणाली या किसी एक समुदाय के प्रति वचनबद्ध नहीं हो सकती है, ऐसा हर्गिज नहीं होना चाहिए। इसी तर्क के सहारे वे सिद्ध करते हैं कि धर्म और लोकतंत्र के मूल्यों और उद्देश्यों में कोई फर्क नहीं है। इतना ही नहीं, वे यह भी कहते है कि, 'मैंने धर्म को सेवा से जोड़ लिया है। चूंकि, मैं अपना काम सेवाभाव से करता हूं, तो मुझे अपने इसी काम में आध्यामिकता का भी बोध होता है।' राजनीति को अध्यात्म बना देने की इसी महानता के चलते शायद वे कभी देवताओं को जाति-प्रमाणपत्र देने लगते हैं, तो कभी अपने विरोधियों को राष्ट्रविरोधी बताते हुए देशनिकाला देने पर उतारू हो जाते हैं! अगर राजनीति और अध्यात्म का यह भामक घालमेल इसी तरह जारी रहा तो आम चुनाव में भी मतदाता उनसे बिदक सकता है।

अध्यात्म और राजनीति की ही तरह इस साक्षात्कार में योगी ने मनुस्मृति और संविधान में भी 'अभेद' माना है। वे बिलकुल ठीक कहते हैं कि हमारा संविधान एक पवित्र दस्तावेज है। हमारी परंपरा, हमारे साधु-संत भी उस संविधान का आदर करते रहे हैं जिसे हमारे देश के महान स्वतंत्रता सेनानियों ने तैयार किया है। लेकिन उसी साँस में वे यह भी याद दिलाते हैं कि जब यह संविधान नहीं था तब भी हमारा समाज कुछ स्मृतियों या नियमों के सहारे चलता था, जिसे हमारे महान ऋषि-मुनियों ने बनाया था। वे कहते हैं कि, 'इसमें मनुस्मृति के साथ-साथ कई अन्य नियमाविलयों का बड़ा संग्रह था, जिससे समाज चलता था। मैं हमारे संविधान को उसी कड़ी में देखता हूं।' कहना न होगा कि यह धारणा स्मृति के नियमों को संविधान के साथ-साथ चालू रखने की पक्षधर है। इसलिए योगी जी को सोचना चाहिए

कि स्त्री-पुरुष के भेदभाव से लेकर ऊँच-नीच की कट्टरता तक के जो सूत्र इस सरल समीकरण में छिपे हैं, वे व्यापक समाज के लिए चिंता का कारण भी हो सकते हैं। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 05/01/2019)

सौम्य छवि की ओर

किसी और की समझ में आया हो या ना आया हो, दिसंबर 2018 के विधानसभा चुनाव परिणामों का यह निष्कर्ष प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की समझ में आ गया लगता है कि इस देश की जनता धर्म और अध्यात्म को पसंद करते हुए भी हर तरह की कट्टरता को खारिज करती है। इसीलिए अपने ताजा साक्षात्कार में उन्होंने इस बात के स्पष्ट संकेत दिए हैं कि वे भाजपा की उस उदार और सौम्य छिव की ओर वापस लौट रहे हैं, जिसके बल पर कभी पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने जनता के दिलों पर राज किया था।

नए वर्ष के पहले दिन ही इस सौम्य छिव को देश की जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रधानमंत्री ने यह संदेश देने का सफल प्रयास किया कि वे प्रधानमंत्री के रूप में संविधान और न्याय प्रक्रिया का सम्मान करते हैं तथा सत्ता को कानून से ऊपर नहीं मानते। इसे आगामी चुनाव के संदर्भ में उनकी नई सौम्य छिव गढ़ने की सोची समझी रणनीति कहा जा सकता है।

इस साक्षात्कार से कोई यह न समझे कि प्रधानमंत्री राम मंदिर मुद्दे को नकार रहे हैं या ठंडे बस्ते में डालने वाले हैं। नहीं; ऐसा बिल्कुल नहीं है। बस इतना है कि वे संत समाज जैसी जल्दबाजी में नहीं हैं। उन्होंने अध्यादेश लाने से इनकार नहीं किया है। बल्कि इतना भर कहा है कि 'कानूनी प्रक्रिया पूरी होने पर ही अध्यादेश लाया जा सकता है।' इसका प्रयोजन इतना भर है कि जो लोग उन्हें संविधान और कानूनी प्रक्रिया के असम्मान का दोषी सिद्ध करना चाहते हैं, उनकी जबान बंद हो जाए तथा जनता के बीच यह संदेश जाए कि प्रधानमंत्री लोकतांत्रिक संस्थाओं का कितना सम्मान करते हैं।

एसा करना इसिलए भी जरूरी है कि जिस प्रकार की आक्रामक राजनीति पर इस समय कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी उतारू हैं, उसका तोड़ विनम्न किंतु दृढ़ बनकर ही कारगर तरीके से पेश किया जा सकता है। यह सुरसा के सौ योजन के मुँह के सामने हनुमान द्वारा अति लघु रूप धारण करने की 'चाल' के समान है। (सत जोजन तेहि आनन कीन्हा/ अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा। - रामचिरतमानस, सुंदरकांड)। इसका अर्थ है कि आम चुनाव के पिरप्रेक्ष्य में अब भाजपा उग्र हिंदुत्व के स्थान पर अपेक्षाकृत अधिक ग्राहय सौम्य हिंदुत्व के साथ मैदान में उतरने वाली है। इसका लक्ष्य भी एकदम साफ है। प्रधानमंत्री के सलाहकार उन्हें इस सत्य का अहसास कराने में सफल हो गए दिखते हैं कि उग्र और आक्रामक राजनीति से भाजपा को नुकसान हो रहा है, क्योंकि इससे शहरी मध्यवर्ग का मतदाता पार्टी से दूर होता जा रहा है। आए दिन जिस प्रकार की असुरक्षा और असिहष्णुता की बातें किसी ने किसी दिशा से सुनाई पड़ती रहती है, उनसे जुड़े साधारण आदमी के डर और संदेह के निवारण के लिए भी प्रधानमंत्री का चेहरा सौम्य और आश्वासन से भरापूरा दिखना ही चाहिए। इसलिए अपने साक्षात्कार में प्रधानमंत्री ने यह भी जताने की कोशिश की कि वे हिंदुत्ववादी कार्यसूची से नहीं बल्क अपने दल के घोषणापत्र से बंधे हैं। उन्होंने याद किया कि 'हम लोगों ने अपनी पार्टी के घोषणापत्र में कहा है कि राम मंदिर निर्माण संबंधी मामले का हल संविधान के दायरे में ही निकाला जाना चाहिए।'

यह भी प्रतीत होता है कि संत समाज और विश्व हिंदू परिषद के हठवादी लड़ाकू तेवर के बावजूद राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की सहमित प्रधानमंत्री के इस नए पैंतरे के साथ है। इसीलिए उसने इस वक्तव्य को 'मंदिर निर्माण की दिशा में सकारात्मक कदम' बताया है, जो उसके शीर्ष नेताओं के हालिया बयानों से उलट है।

कुल मिलाकर, यह समझा जाना चाहिए कि भाजपा जनता के मूड को भाँपकर घोर दक्षिणपंथ से मध्यम दक्षिणपंथ की ओर आ रही है ताकि उसका चेहरा चुनावों में कुछ तो सौम्य दिखे!000

(डेली हिंदी मिलाप, 04/01/2019)

स्वाधीनता संघर्ष को याद करते हुए

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने अंडमान और निकोबार द्वीपसमूह की अपनी प्रथम यात्रा के दौरान, पोर्ट ब्लेयर में नेताजी सुभाष चंद्र बोस के द्वारा तिरंगा फहराने की 75वीं वर्षगांठ के अवसर पर ध्वजारोहण किया। यह क्षण भारतवासियों के लिए अत्यंत गौरव और स्वाभिमान का क्षण माना जा सकता है। भारत के स्वाधीनता संघर्ष में नेताजी सुभाष चंद्र बोस का योगदान अविस्मरणीय है। वे इस देश के अपराजेय पौरुष के प्रतीक बनकर उभरे। उन्होंने आजाद हिंद फौज का गठन करके पूरी दुनिया को दिखा दिया कि विश्वविजेता अंग्रेज-जाति की नाक में दम करने का जीवट किसे कहते हैं। इसके अलावा अंडमान-निकोबार भारत के स्वतंत्रता संग्राम के उस अध्याय की भी मुख्य कथाभूमि भी है जिसे 'काला पानी' के नाम से जाना जाता है। सेल्यूलर जेल उन महान देशभक्तों और बलिदानियों के इतिहास को अपने आप में समेटे हुए है जिन्होंने आजादी और स्वराज्य की खातिर अपने जीवन वार दिए। इसलिए यह उचित ही है कि अंडमान-निकोबार द्वीपसमूह के तीन द्वीपों का नाम बदलकर नेताजी सुभाष चंद्र बोस द्वीप, शहीद द्वीप और स्वराज द्वीप रख दिया गया है। इस अवसर पर नेताजी की स्मृति में टिकट और चांदी का सिक्का जारी करना भी नेताजी सहित तमाम बलिदानी देशभक्तों के प्रति कृतज्ञ राष्ट्र की श्रद्धांजिल का प्रतीक है। इस गौरवपूर्ण इतिहास की स्मृति के साथ हम नए वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं, यह सुखद संयोग है।

सामने चुनावी वर्ष होने के कारण इस समय सरकार की सब घोषणाओं और योजनाओं को उसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाएगा। इसके बावजूद इसमें भी संदेह नहीं कि कार निकोबार में वहाँ के निवासियों के निमित्त जिन योजनाओं की घोषणा की गई, वे समय की जरूरत के मुताबिक हैं तथा उन्हें और टाला जाना उचित न होता। भारत अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण संरक्षण का नेतृत्व करने की अपनी क्षमता दर्शा चुका है और दुनिया के बड़े देशों को आगाह करता रहा है कि उनके कारण पृथ्वी, जीवन के लिए बदतर जगह बनती जा रही है। इसे बेहतर बनाने के लिए पर्यावरण को संरक्षित रखते हुए ऊर्जा के ऐसे स्रोतों की तलाश आवश्यक है जो जीवन को अधिक सुरक्षित बना सकें। इस दृष्टि से कार निकोबार में सौर ऊर्जा की संभावनाओं को तलाशने और तराशने की योजना सराहनीय है। गौरतलब है कि भारत उन देशों में शामिल है जो सौर ऊर्जा के उत्पादन और उपयोग की दृष्टि से अग्रणी हैं। सौर ऊर्जा के माध्यम से देश को सस्ती व ग्रीन एनर्जी देने की प्रतिबद्धता स्वागतयोग्य है।

किसानों और खासकर मछुआरों के लिए भी कई लाभकारी योजनाओं की घोषणा की गई है। बताया गया है कि मछुआरों को सशक्त करने के लिए केंद्र सरकार निरंतर प्रयत्नशील है। इसके लिए मछली-पालन व्यवसाय हेतु विशेष फंड का प्रावधान किया गया है और मछुआरों तथा किसानों को उचित दरों पर ऋण उपलब्ध कराए जा रहे हैं। ऐसी योजनाएं इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं कि हमारे किसान और मछुआरे अधिकाधिक आत्मनिर्भर और स्वावलंबी बन सकें। ऋण माफ करने की तुलना में इस प्रकार की योजनाएं अधिक आवश्यक है। हाशिये पर जीने वाले, अत्यंत सीमित संसाधनों से युक्त समुदायों के जीवनस्तर को उठाने के लिए उन्हें सस्ता राशन, स्वच्छ पानी, गैस कनेक्शन और केरोसिन आदि की सुविधाएं सहज रूप में उपलब्ध करानी होंगी। साथ ही, रोजगार क्षेत्रों का विस्तार ज़रूरी है। अंडमान-निकोबार द्वीपसमूह के युवाओं में स्पोर्ट्स स्किल रची-बसी है, उन्हें भी उपयुक्त अवसर प्रदान किए जाने की आवश्यकता है।

उम्मीद की जानी चाहिए कि 'बच्चों को पढ़ाई, युवाओं को कमाई, बुजुर्गों को दवाई, किसानों को सिंचाई और जन-जन की सुनवाई' के रूप में विकास की जिस 'पंचधारा' की प्रधानमंत्री ने घोषणा की है, वह केवल 'जुमला' बनकर नहीं रह जाएगी, बल्कि यथार्थ में चिरतार्थ होगी।000

(डेली हिंदी मिलाप, 01/01/2019)

<u>नए समीकरण : नए दाँवपेंच</u>

वर्ष 2018 को विदा करते समय सभी राजनीतिक दलों की दृष्ट 'लोकसभा चुनाव – 2019' पर है। जाते-जाते 2018 विधानसभा चुनावों के माध्यम से यह संदेश दे गया कि नए वर्ष में होने वाला चुनावी समर सभी के लिए काफी किठन होने वाला है। भावनाओं को भड़काने वाले मुद्दों के बावजूद वोट मांगने वालों से यह अवश्य पूछा जाएगा कि उनके पास जनता को देने के लिए क्या है। सब दलों और नेताओं को अपने दोस्तों को पहचानने और उन्हें अपने साथ बनाए रखने की भी जरूरत समझ में आ रही है। अलग-अलग दिशाओं में कई तरह के भानुमित के राजनैतिक कुनबे बनाए जाने लगे हैं। यह भी देखा जा रहा है कि कुनबे में किसे प्रवेश दिया जाए और किसका प्रवेश निषेध हो। कुनबे की खातिर अगर थोड़ा नुकसान भी उठाना पड़े तो इसके लिए भी पार्टियां अपने आपको तैयार कर रही हैं। बिहार में एनडीए के कुनबे को बचाए रखने के लिए बीजेपी बलिदान देने के लिए तैयार हो गई है तािक कोई साथी दल अब और न छिटके। मध्यप्रदेश छतीसगढ़ और राजस्थान से सबक लेकर अब पार्टी बिहार में कोई खतरा नहीं

दल अब और न छिटके। मध्यप्रदेश छतीसगढ़ और राजस्थान से सबक लेकर अब पार्टी बिहार में कोई खतरा नहीं उठाना चाहती। आम चुनाव को सामने देखकर कई साथियों की एनडीए के बेड़े से कूदकर अपनी अलग नाव खेने या किसी दूसरे बेड़े में शामिल होने की छटपटाहट स्वाभाविक है। उन्हें लगता है कि जिस बेड़े में वे सवार हैं वह जर्जर हो चला है। जर्जर बड़े में कम से कम कोई अवसरवादी और महत्वाकांक्षी नेता भला क्यों सफर करेगा? (बेड़ा देखा जरजरा, ऊतिर पड़े फरंक। - कबीर)। यों,भाजपा की पूरी कोशिश है कि अपने बेड़े को और जर्जर न होने दे।

आरिक्षित समुदायों को साधने की कवायद मेन लगी भाजपा को यह भी देखना होगा कि उसके पारंपिरक समर्थक भी साथ जुटे रहें। बाबा रामदेव के बिगड़े हुए बोल इस दृष्टि से खतरे की घंटी हो सकते हैं। उन्होंने जिस अंदाज में अपनी 'उदासीनता' की घोषणा की है, उससे यह लगता है कि वे अपने अनुयायियों समेत कभी भी पाला बदल सकते हैं। भविष्य को बहुत कठिन बताते हुए उनका यह कहना काफी अर्थपूर्ण हो सकता है कि अगला प्रधानमंत्री कौन होगा इस बारे में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। बाबा रामदेव का यह कहना कि वे 'आध्यात्मिक भारत' के समर्थक हैं 'हिंदू भारत' के नहीं, उग्र हिंदुत्व की राजनीति करने वालों के लिए साफ संदेश है। वैसे भी पिछले चुनाव से यह साफ

हो गया है कि आक्रामक हिंदुत्व का योगी-मॉडल सॉफ्ट हिंदुत्व के राहुल-मॉडल के सामने टिक नहीं पा रहा है। राम मंदिर के लिए संतों के दबाव के बावजूद अधिसंख्य हिंदू वोटर गरम-मिजाजी के पक्ष में नहीं है।

तेलंगाना के दूसरी बार जोर-शोर से मुख्यमंत्री बने के. चंद्रशेखर राव ने राष्ट्रीय राजनीति में बढ़-चढ़कर हिस्सेदारी की अपनी तैयारी दिखानी शुरू कर दी है। काग्रेस के इर्द-गिर्द इकट्ठा होने वाले दलों का भी अपना कुनबा है लेकिन वहाँ नेतृत्व का सवाल कुछ ज्यादा टेढ़ा है और बिना सोचे-समझे तिमलनाडु में स्टालिन महाशय ने राहुल गांधी के नाम की घोषणा करके उसे और भी टेढ़ा कर दिया है। ऐसे में के. चंद्रशेखर राव कांग्रेस और भाजपा दोनों से समान दूरी बनाए रखने के सिद्धांत पर चलते हुए नया मोर्चा गठित करने के लिए प्रयासरत हैं। इसके लिए वे लगातार क्षेत्रीय क्षत्रपों से मुलाकातें कर रहे हैं। ममता बनर्जी, नवीन पटनायक, अखिलेश यादव, मायावती तथा अन्य को साथ लेकर वे फेडरल फ्रंट खड़ा करने के लिए अग्रसर है। अखिलेश यादव और के. चंद्रशेखर राव परस्पर चर्चा करके इस मोर्चे के लिए प्रधानमंत्री का चेहरा तय करेंगे। इस मोर्चे का खड़ा होना केंद्र में सतारूढ़ वर्तमान गठबंधन के लिए किसी बड़े झटके से कम नहीं होगा। अर्थात, 2019 चुनाव के बाद जो तस्वीर उभरेगी उसमें क्षेत्रीय दलों की भूमिका निर्णायक रहने वाली है। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 28/12/2018)

आत्महत्याओं का इलाज कर्जमाफ़ी नहीं

2018 के अंतिम महीनों में हुए विधानसभा चुनावों से 3 राज्यों में सत्ता में आते ही ज़ोर-शोर से कांग्रेस ने किसानों के कर्ज़ माफ करने की घोषणाओं से एक ऐसा माहौल पैदा कर दिया है जिसमें अन्य राज्यों की सरकारों पर भी कर्ज़ माफी का दबाव बढ़ रहा है। पहले महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान की सरकारों ने इस नीति को लागू करके इन राज्यों के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) को भारी नुकसान पहुंचाया, अब अपनी सरकार वाले राज्यों में कांग्रेस ताल ठोक-ठोक कर यही कर रही है। आश्चर्य नहीं होना चाहिए अगर 2019 के आम चुनाव से पहले पूरे देश में कर्ज़ माफी की बाढ़ आ जाए। भले ही इस जनता रिझाऊ टोटके के चक्कर में सरकारी खजाने खाली हो जाएँ अथवा साधारण करदाता की जेब कटती जाए। फिलहाल कोई भी पार्टी किसानों की नाराजगी मोल लेना नहीं चाहती।

वैसे जमीनी सच्चाई यह भी है कि जितनी घोषणाएँ की जाती हैं, उतना कर्ज़ माफ हो नहीं पाता। जानकार बताते हैं कि विरोधियों को पटखनी देने के लिए 2008 में मनमोहन सिंह की संप्रग सरकार ने देशभर में 70,000 करोड़ रुपये के कर्ज़ माफ करने की चाल चली थी। लेकिन 4 साल में केंद्र सरकार केवल 52,000 करोड़ रुपये का कर्ज माफ कर पाई और वादे के मुताबिक 18,000 करोड़ रुपये का कर्ज शेष रह गया। कर्नाटक में बनी नई कुमारस्वामी सरकार ने

8,000 करोड़ रुपये की कर्ज माफी घोषित की जिसमें से अभी केवल 400 करोड़ रुपये का कर्ज माफ हो सका है। इस माफी का लाभ छोटे और सचमुच ज़रूरतमंद किसान तक कितना पहुँच पाता है, इसमें भी बड़ा संदेह है। उदाहरण के लिए, मध्यप्रदेश की नवगठित कांग्रेस सरकार की कर्जमाफी की योजना के दायरे में कथित रूप से न आने के कारण एक सप्ताह के अंदर दो किसानों ने आत्महत्या कर ली। साथ ही, कर्ज़ माफी का दुष्प्रभाव दूसरी लोक हितकारी योजनाओं पर भी पड़ता है। जैसे कि मप्र में ही किसानों को यूरिया नहीं मिल रहा और रबी फसलों को लेकर चिंतित किसान अब फिर गुस्से में हैं। अतः राजनैतिक दलों को देश के लिए आत्मघाती इस खेल से बाज़ आना चाहिए तथा किसानों की समस्याओं के स्थायी समाधान खोजने चाहिए। कर्ज़ माफी का झुनझुना थमाकर रीझते फिरने की बचकाना सियासत के दूरगामी परिणाम खतरनाक हो सकते हैं।

कर्ज़ को किसान आत्महत्याओं का एकमात्र कारण मान बैठना भी ठीक नहीं है। प्रधानमंत्री की आर्थिक सलाहकार परिषद की सदस्य शमिका रिव का तो कहना है कि किसानों की आत्महत्या के आंकड़ों के विश्लेषण से यह बात सामने आई है कि हाल के वर्षों में आत्महत्या करने वाले किसानों की संख्या वास्तव में घटी है। इसका अर्थ यह है कि किसानों की आत्महत्या और गरीबी के बीच उतना सीधा रिश्ता नहीं है, जितना बताया जाता है। वरना आत्महत्या का आंकड़ा बिहार और उत्तर प्रदेश जैसे गरीब प्रदेशों से की तुलना में महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश जैसे अपेक्षाकृत अमीर राज्यों में ज्यादा क्यों होता? इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि गरीब किसानों पर अमीर परिवारों के मुकाबले देनदारी ज्यादा रहती है, लेकिन आत्महत्या उनकी तुलना में अमीर किसान ज्यादा करते हैं। नेशनल सैंपल सर्वे ऑफिस के आंकड़ों के मुताबिक, महाराष्ट्र में आत्महत्या करने वाले किसानों में से लगभग 90 फीसदी के पास 2 एकड़ से ज्यादा जमीन थी और हर 10 में से 6 किसान 4 एकड़ से ज्यादा जमीन के मालिक थे। दूसरी ओर, बिहार जैसे राज्यों में कर्जदाताओं के बोलबाले के बावजूद कम आत्महत्याएं देखने को मिली हैं।

दरअसल किसानों की आत्महत्या की समस्या से कारगर ढंग से निबटने के लिए ज्यादा लिक्षित कार्यक्रमों की जरूरत है जिससे वे आशावादी और सुरक्षित महसूस कर सकें। इस दृष्टि से जीवन बीमा, फसल बीमा, चिकित्सा बीमा, फसलों की तुरंत खरीद और तुरंत भुगतान की गारंटी कर्ज़ माफी की तुलना में बेहतर विकल्प हो सकते हैं।000

(डेली हिंदी मिलाप, 27/12/2018)

राफेल की रार : और कब तक?

राफेल सौंदे पर सर्वोच्च न्यायालय के फैसले को कांग्रेस पचा नहीं पा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके नेता इस विवाद को कम से कम अगले चुनाव तक जीवित रखना चाहते हैं। अभी तक भी उन्हें यह लगता है कि इस विवाद के द्वारा वे चुनावों में कुछ वैसा ही विनाशकारी चमत्कार दिखा सकते हैं जैसा कभी कांग्रेस के खिलाफ बोफोर्स विवाद ने दिखाया था। इसके विपरीत यदि अभी-अभी निपटे विधानसभा चुनावों के परिणामों पर नजर डालें तो ऐसा नहीं लगता कि इस मुद्दे ने पर हुए शोरगुल ने मतदाता पर कोई बड़ा प्रभाव डाला हो। यह भी संभव है कि दूसरे प्रश्नों और जनता को भावनात्मक रूप से उत्प्रेरित करने वाले विषयों के सामने यह मृद्दा कहीं टिकता ही न हो।

लेकिन हमारे नेताओं की समझ में यह बात नहीं आती कि उनकी रोज-रोज की तकरार और तकरीर से जनता उकता चुकी है। बेहतर होता कि सर्वोच्च न्यायालय द्वारा राफेल से जुड़े सभी आरोपों को निरस्त कर दिए जाने के बाद कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी दोनों ही विनम्रतापूर्वक शांत हो जाते। लेकिन नहीं। एक तरफ भाजपा को लगता है कि इस मुद्दे पर जीत का जश्न मनाकर कांग्रेस को चिढ़ाना जरूरी है तो दूसरी तरफ कांग्रेस पहले ही कमर कसे बैठी है कि इस विवाद को ठंडा नहीं पड़ने देना है। ऐसा लगने लगा है कि दोनों तरफ के नेता न तो न्यायपालिका के प्रति कोई आस्था रखते हैं और न ही जनता के प्रति किसी तरह की जवाबदेही महसूस करते हैं, बल्कि एक-दूसरे के ऊपर आरोप लगाते रहने में ही अपने और पार्टी के भविष्य की सुरक्षा देखते हैं। इस स्थिति को लोकतंत्र के लिए बहुत भली स्थिति नहीं माना जा सकता।

इसे विडंबना नहीं तो और क्या कहें कि एक ओर तो प्रधानमंत्री दुनिया-भर के लोगों को प्रयागराज में अर्धकुंभ के अवसर पर पुण्यलाभ करने का न्योता देते घूम रहे हैं और दूसरी ओर कांग्रेस उन्हें सलाह दे रही है कि वे पश्चाताप करें और पवित्र गंगा नदी में स्नान करें क्योंकि कांग्रेस का मानना है कि सरकार ने उच्चतम न्यायालय के समक्ष झूठे तथ्य उपस्थित किए हैं। वह चाहती है कि माननीय उच्चतम न्यायालय राफेल पर अपने फैसले को वापस ले ले। कहना ही होगा कि कांग्रेस का यह आचरण खिसियानी बिल्ली के खंबा नोचने जैसा है। दुर्भाग्य की बात यह भी है कि यदि कांग्रेस सनसनी और नफरत की सियासत कर रही है तो भाजपा भी गड़े मुर्दे उखाड़ने और लोगों को उकसाने की राजनीति में पीछे नहीं है। प्रयागराज और रायबरेली में प्रधानमंत्री ने देश और युवा पीढ़ी को सतर्क किया कि देशविरोधी ताकतों के साथ खड़ी कांग्रेस से सावधान रहें। अपने विरोधियों को मौका-बेमौका राष्ट्रविरोधी बताते रहना भाजपा में आत्मविश्वास की कमी का द्योतक है। उसका कहना है कि कांग्रेस ने सेना को कमजोर किया, देश की सुरक्षा के साथ खिलवाड़ किया और पाकिस्तान के साथ मिलीभगत की; तथा बल और छल के प्रयोग द्वारा अपने सामंती और राजशाही चित्र को उजागर किया। लेकिन अब उसे समझना चाहिए कि नामदार-कामदार की तुकबंदी जब विधानसभा चुनावों में काम नहीं आई तो लोकसभा चुनाव में क्या आएगी! उसे अध्रे वादों को यथाशीघ्र प्रा करके दिखाना चाहिए, वरना रोज-रोज के गाली-गुफ्तार से लोग आजिज़ आ चुके हैं।

उधर कांग्रेस के लिए भी बेहतर यही होगा कि राहुल गांधी भले आदमी की तरह राफेल के रास्ते से हट जाएँ, न्यायपालिका का सम्मान रखें और जितनी जल्दी हो सके राफेल विमानों को भारतीय वायु सेना के उपयोग के लिए भारत आने दें क्योंकि उसे इस वक्त इन विमानों की सख्त जरूरत है। जो कोई भी अब इस सौदे में और अडंगा अड़ाएगा, उसे भारतीय वायु सेना को कमजोर करने का अपराधी समझा जाएगा।000

अब दिल्ली की ओर...

विधानसभा चुनाव में भारी सफलता प्राप्त होने पर तेलंगाना राष्ट्र समिति के अध्यक्ष के. चंद्रशेखर राव का पुनः राज्याभिषेक संपन्न हो चुका है। उनके नेतृत्व में टीआरएस ने 119 में से 88 सीटें हासिल कीं और उनकी सहयोगी पार्टी (मजित्स) ने सात। माना जा रहा है कि कुशल चुनाव प्रबंधन के अलावा इस सफलता के पीछे तेलंगाना राज्य में अपनी पिछले कार्यकाल के दौरान लागू की गई उनकी कल्याणकारी योजनाओं का बड़ा हाथ है। इस विजय से केसीआर का कद निश्चित रूप से बढ़ गया है और उन्हें 'नए बाहुबली' के रूप में देखा जाने लगा है। चुनाव प्रचार के दौरान ही वे यह संकेत भी दे चुके थे कि तेलंगाना में सफलता मिलने पर वे केंद्रीय राजनीति का रुख करेंगे और शपथ ग्रहण के साथ ही उनकी इस महत्वाकांक्षा की घोषणा भी हो गई। उन्होंने अंग्रेजी, तेलुगु और हिंदी में विधिवत यह घोषणा की है कि तेलंगाना राष्ट्रीय राजनीति में नए रास्ते खोलने वाला सिद्ध होगा। उन्होंने कहा है कि वे 10 दिन के भीतर एक ऐसा 'वास्तविक' गठबंधन खड़ा करके दिखाएंगे जो गैर-भाजपा और गैर-कांग्रेस होगा। अर्थात राष्ट्रीय स्तर पर क्षेत्रीय दलों के साथ मिलकर वे कांग्रेस और बीजेपी दोनों के विकल्प के रूप में एक नया गठबंधन या दल भी खड़ा कर सकते हैं।

आत्मिविश्वास से परिपूर्ण मुख्यमंत्री के। चंद्रशेखर राव की भावी योजनाओं का संकेत पार्टी के वर्तमान सांसदों को चालू लोकसभा सत्र के लिए दिए गए उनके निर्देशों में भी झलकता है। अपने सांसदों को उन्होंने सावधान किया है कि भाजपा और कांग्रेस दोनों ही से बराबर की दूरी बनाए रखें क्योंकि वे जानते हैं कि इनमें से किसी एक के साथ भी उनके दल की निकटता एकजुटता के उनके प्रयासों पर पानी फेर सकती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वे अनुसूचित जनजातियों और अल्पसंख्यकों के आरक्षण के लिए आरक्षण के कुल कोटे में वृद्धि को बड़ा मुद्दा बनाने जा रहे हैं। अर्थात इन दोनों समुदायों को केंद्र की वर्तमान सरकार के विरोध में खड़ा करने की उनकी मंशा है। शायद इसीलिए उन्होंने यह घोषणा भी की है कि वे एआईएमआईएम के नेता और अपने मित्र असदुद्दीन ओवैसी के साथ देश भर की यात्रा करेंगे और अल्पसंख्यकों को अपने अधिकारों की रक्षा के लिए एक मंच पर लाने की कोशिश करेंगे। दरअसल वे एक ओर तो सुप्रीम कोर्ट द्वारा आरक्षण की अधिकतम सीमा को न बढ़ाने की अनुमित न दिए जाने के कारण आहात है तथा दूसरी ओर भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष द्वारा की गई इस घोषणा को उन्होंने चुनौती के रूप में ग्रहण किया है कि वे किसी भी हाल अल्पसंख्यक आरक्षण नहीं होने देंगे। लोहा गरम है और चोट करने का समय है; इसे केसीआर पहचानते हैं। इसीलिए उन्होंने यह भी कहा है कि इस मुद्दे पर वे भाजपा और कांग्रेस सिहत सब दलों को एक साथ लाने का प्रयास करेंगे तािक कानूनी तौर पर आरक्षण कोटे को बढ़ाया जा सके। स्वाभाविक है कि यदि कोई एक दल भी इसका विरोध करेगा तो उसके विरुद्ध धुवीकरण में प्रस्तािवत गठबंधन को स्विधा होगी।

भाजपा के विकल्प की तलाश में कांग्रेस और तेलुगु देशम अपनी दो सहयोगी पार्टियों के साथ तेलंगाना विधानसभा चुनाव में उतरे थे लेकिन उनके पांव उखड़ गए। यदि यह कहा जाए कि उस गठबंधन के कर्ता-धर्ता मुख्यमंत्री चंद्रबाबू नायड़ इस मामले में दुहरे नुकसान में रहे हैं तो गलत न होगा क्योंकि महागठबंधन का नेतृत्व करने का उनका सपना इस असफलता से धूल में मिल गया। लेकिन सभी पांचों राज्यों में जिस प्रकार मतदान हुआ है उससे यह संकेत अवश्य मिलता है कि जनता बदलाव चाहती है पर उसके समक्ष कोई सार्थक और समर्थ विकल्प नहीं है। इससे जो शून्य उत्पन्न हुआ है उसे भरने के लिए केसीआर इस समय सबसे उपयुक्त व्यक्ति हो सकते हैं क्योंकि उनके सितारे इस समय बेहद बुलंदी पर हैं।०००

(डेली हिंदी मिलाप, 17/12/2018)

आत्मचिंतन की ज़रूरत

मध्य प्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़, तेलंगाना और मिजोरम की विधानसभाओं के चुनावों के नतीजे भारतीय जनता पार्टी के लिए तिनक भी सुखकर नहीं रहे और इनमें भी खास तौर पर तीनों हिंदी भाषी राज्यों में उसके अजेय होने के भ्रम को कांग्रेस ने जिस तरह तोड़ा है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि लोकसभा चुनाव-2019 का समर भाजपा के लिए आसान नहीं होगा। वैसे यह कहा जा सकता है कि प्रदेशों के चुनाव परिणामों को प्रधानमंत्री मोदी की लोकप्रियता की कसौटी नहीं माना जाना चाहिए, लेकिन यह सत्य से आँख चुराना भर होगा। इसलिए भारतीय जनता पार्टी को ठंडे दिमाग से मिल-बैठकर आत्मचिंतन करने की बड़ी ज़रूरत है। अभी लोकसभा चुनाव काफी दूर है। पार्टी चाहे तो अपनी वह छिव सुधार सकती है, जिसकी ओर सोनिया गांधी ने यह कहते हुए इशारा किया है कि, 'कांग्रेस को भाजपा की 'नकारात्मक राजनीति' पर जीत मिली है।'

वैसे आत्मचिंतन कांग्रेस को भी करना होगा क्योंकि जिस तरह की सत्ता विरोधी लहर की उम्मीद उसने लगा रखी थी, उस तरह के परिणाम दिखाई नहीं दिए। वैसा होता तो मध्य प्रदेश में कांग्रेस के इतने पसीने न छूटते। विश्लेषकों का यह कहना मानीखेज है कि इस चुनावी समर में शिवराज सिंह 'धरती पकइ' साबित हुए हैं। एक केस हिस्ट्री की तरह शिवराज सिंह की इस पकड़ का अध्ययन करके हर पार्टी यह सीख सकती है कि ज़मीन से कैसे जुड़ा जाता है। इसलिए यह कहना ठीक लगता है कि वहाँ आँकड़ों के खेल में भले ही कांग्रेस ने बाजी मारी हो लेकिन शिवराज भी 'विजेता' से कम नहीं। मोदी ब्रांड तो चला नहीं, पर सत्ता विरोधी रुझान के बावजूद 'शिवराज ब्रांड' ने भाजपा को शर्मनाक हार से बचा लिया। हारी तो लेकिन सचमुच कांटे की टक्कर देकर। राजस्थान में वसुंधरा राजे और छत्तीसगढ़ में रमन सिंह की सरकारों की 'दुर्गत' की तुलना में मध्य प्रदेश में शिवराज सिंह के प्रदर्शन की सराहना करनी ही पड़ेगी। लोग पूछ रहे हैं कि 'आखिरकार शिवराज सिंह में ऐसा क्या है कि मध्यप्रदेश में उनकी सरकार को मात देने का

कांग्रेस का सपना पूरी तरह पूरा नहीं हो पाया?' जानकार कहते हैं कि इसकी जड़ में शिवराज सिंह की आम आदमी की छिवि है। वे मध्यप्रदेश के बच्चों के 'मामा' और महिलाओं के 'भाई' हैं। व्यवहार में सौम्यता का गुण उन्हें अजातशत्रु बनाता है। लगभग 15 साल सत्ता में बने रहने के लिए उनके इसी देसीपन को जिम्मेदार माना जा रहा है। कहने का मतलब कि दिलों को जीतने का फ़न दूसरे नेताओं को उनसे सीखना चाहिए।

भाजपा को इस बिन्दु पर भी सोचना होगा कि मध्य प्रदेश में उसे नोटबंदी और जीएसटी से फाड़े के बजाय नुकसान ही हुआ है। शहरी क्षेत्रों में उसका वोट शेयर इन के कारण काफी गिरा है। अनुसूचित जाति-जनजाति का समीकरण तो बिगड़ा ही, सवर्ण वोट भी छिटक गए। राजस्थान में सचिन पायलट गुर्जर समुदाय के मतदाताओं पर असर का कोई तोड़ भी भाजपा के पास न था। जाट समुदाय को भी नहीं रिझाया जा सका। अगर कहा जाए कि राजस्थान में किसानों का मोहभंग भाजपा के लिए घातक सिद्ध हुआ तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। रही सही कसर 'रानी' के मिस-मैनेजमेंट ने पूरी कर दी। इसके अलावा तीनों ही हिंदीभाषी राज्यों में आदिवासी समुदाय का भी भाजपा को पहले सा समर्थन नहीं मिला। इसके कारणों को भी पार्टी को समझना होगा।

अंततः, इस सेमीफ़ाइनल से 2019 के ग्रैंड-फ़िनाले के लिए यह संकेत भी सब दलों को ग्रहण करना होगा कि फिर से गठबंधन के दिन आ रहे हैं इसलिए सोच-समझ कर अभी से अपने जोड़ीदार तय कर लें, वरना बाद में मुश्किल होगी!000

(डेली हिंदी मिलाप, 15/12/2018)

जाति और गोत्र की वेदी पर लोकतंत्र

सत्तर साल का होने जा रहे भारत के लोकतंत्र को अब तक काफी वयस्क हो जाना चाहिए था लेकिन ऐसा लग रहा है कि वह असमय सिठया गया है। समसामियक चुनावी परिदृश्य पर नजर डालने से ऐसा लगता है कि तमाम स्थानीय और राष्ट्रीय प्रश्नों पर धर्म, जाित और गोत्र के प्रश्न भारी पड़ रहे हैं। राष्ट्र के नविनर्माण के प्रश्नों के ऊपर राम, हनुमान और गाय के प्रश्न हावी हो रहे हैं। इसका अर्थ है कि हमारे चुनावी लोकतंत्र की छिव लगातार विकृत होती जा रही है जिसके लिए किसी भी स्वतंत्र चेतना वाले समाज को चिंतित होना चािहए। लोकतंत्र के मूलभूत प्रश्नों का हािशये पर जाना सामाजिक प्रगति के मार्ग में अवरोध खड़ा करता है और यथास्थित को बल देता है। ऐसा नहीं है कि किसी समाज या देश के जीवन में धर्म, जाित, गोत्र, देवता, मंिदर और आस्था के अन्य तमाम प्रश्न कोई स्थान

न रखते हों। रखते हैं। लेकिन यदि ये ही प्रश्न क्षेत्रीय से लेकर राष्ट्रीय राजनीति तक के केंद्रीय प्रश्न बनने लगें तो एक ऐसे षड्यंत्र की गंध आती है जिसमें जानबूझकर जनता को उन प्रश्नों के उत्तर देने से राजनीतिक शिक्तयां बचना चाहती हैं जो उनके लिए असुविधाजनक और असहज हैं। इसलिए यह खतरा महसूस होने लगा है कि लोकतांत्रिक व्यवस्था के बावजूद आज की राजनीतिक शिक्तयां जानबूझकर भारत को नवजागरण के पहले के उस मध्यकाल में लौटा ले जाना चाहती हैं जहां 'इहलोक' के प्रश्नों से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न 'परलोक' के हुआ करते थे। यदि ऐसा है तो यह लोकतंत्र के लिए भी उचित नहीं है। समाज के लिए तो उचित है ही नहीं।

अफसोस की बात है कि पक्ष-प्रतिपक्ष के सारे दल गरीबी, अशिक्षा, नागरिक सुविधाओं के अभाव, ढांचागत क्षेत्रों में गतिहीनता जैसे प्रश्नों से हटकर चुनाव को धर्म, जाति और गोत्र के लिए लड़े जाने वाले गृहयुद्ध की शक्ल देने में व्यस्त हैं। एक खास तरह की तर्कहीनता और जड़ता सारे राजनीतिक परिवेश पर तारी है।

गई हुई सता को पुनः प्राप्त करने के लिए कांग्रेस के नीतिकारों ने भ्रमवश यह मान्यता बना ली है कि भारतीय जनता पार्टी के सतासीन होने में उसके कट्टर हिंदूवादी होने का सबसे बड़ा हाथ है। इसीलिए कांग्रेस ने तय कर लिया कि वह भी हिंदूवादी बनकर दिखाएगी। हिंदू तो कांग्रेस बहुत पहले से थी। गांधी के समय से थी। मंदिरों, बाबाओं, दरगाहों और मौलानाओं के आशीर्वाद प्राप्त करने की परंपरा भी वहां पहले से थी। लेकिन अब उसने 'हिंदू' से आगे बढ़कर यह जो 'हिंदूवादी' अवतार धारण किया है, इससे उस पर आक्रमण करने का भाजपा को सहज अवसर मिल गया। पार्टी के वाचाल वक्ताओं ने कांग्रेस और उसके अध्यक्ष को धर्म, जाति और गोत्र के नाम पर इतना उकसाया, इतना उकसाया, िक वे दूसरे सारे केंद्रीय प्रश्नों को छोड़कर इन हाशिए के और सर्वथा बेमानी प्रश्नों पर सफाई देने में जुट गए। कमाल तो यह हुआ कि जिन ग्रंथों और स्मृतियों को गाली देते आधुनिक विमर्शकार थकते नहीं हैं, उन्हीं का उल्लेख करके अनावश्यक तर्क गढ़े जा रहे हैं। ऐसे में मतदाता के मन में एक सहज प्रश्न उभरता है कि, 'भारत का लोकतंत्र मन्स्मृति से चलेगा या भारतीय संविधान से?'

इस तमाम अनावश्यक और अप्रासंगिक वाद-विवाद को हवा देने में सोशल मीडिया सहित तमाम खबरिया चैनल दिन-रात जूते हैं। उनकी यह भूमिका सर्वथा एंटी-सोशल है क्योंकि ऐसा करके वे भारतीय लोकतंत्र को एक नकारात्मक दिशा में धकेल रहे हैं जो निंदनीय है। आशा की जानी चाहिए कि मध्यकालीन सामंतवादी रूढ़ियों की वेदी पर बिल होते लोकतंत्र को बचाने के लिए भारत की जनता राजनैतिक वयस्कता का परिचय अवश्य देगी। तब तक इतना ही कि-

मानचित्र को चीरती, मजहब की शमशीर। या तो इसको तोड़ दो, या टूटे तस्वीर ॥ मुहर-महोत्सव हो रहा, पाँच वर्ष के बाद ; जाति पूछकर बँट रही, लोकतंत्र की खीर॥ 000

<u>उपेक्षित लद्दाख का दर्द</u>

जम्मू और कश्मीर राज्य के लद्दाख क्षेत्र को स्वतंत्र केंद्र शासित राज्य का दर्जा दिए जाने की मांग के साथ सिक्रय लद्दाख बौद्ध संघ के नेताओं ने राज्यपाल सत्यपाल मिलक से भेंट कर 1947 से ही चली आ रही इस मांग को एक बार फिर दोहराया है। लद्दाख की जनता को यह लगता रहा है कि कश्मीर केंद्रित नीतियों के कारण उनका इलाका हमेशा हाशिए पर धकेल दिया जाता है और ऐसा ही अब भी हो रहा है। इसिलए उन्होंने अपनी मांग के पक्ष में जन आंदोलन चलाने की बात कही है। जन आंदोलन की स्थितियां 5 साल पहले भी थीं जब 2014 के आम चुनावों में भारतीय जनता पार्टी ने यह आश्वासन दिया था कि अगर उसकी सरकार बनती है तो लद्दाख को केंद्र शासित राज्य का दर्जा दे दिया जाएगा; और आंदोलन थम गया था। अब 5 वर्ष पूरे होने को हैं लेकिन इस दिशा में कुछ भी किया नहीं गया। इसिलए लद्दाखियों का धैर्य छूटना स्वाभाविक है। यह चिंता का विषय होना चाहिए कि राज्य सरकार द्वारा लद्दाखियों के जन आंदोलन के क्रूरतापूर्वक दमन के इतिहास को याद रखते हुए लद्दाख बौद्ध संघ अब सीधे-सीधे इस क्षेत्र को कश्मीर के कथित उपनिवेशवाद से मुक्त कराने के लिए हिंसक और उग्र आंदोलन पर उतारू है।

जम्मू और कश्मीर राज्य अपनी अनेक विचित्रताओं के साथ इस मामले में भी विचित्र है कि उसमें शामिल जम्मू, कश्मीर घाटी और लद्दाख तीनों इलाके अपने इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से अलग-अलग चिरत्र वाले हैं। फिर भी उन्हें एक राज्य के रूप में बांधकर रखा गया है। राज्य की राजधानी जम्मू और श्रीनगर में 6-6 महीने रहती है। लेकिन लद्दाखवासी आरंभ से ही यह महसूस करते रहे हैं कि इन दोनों ही जगहों से लद्दाख का प्रशासन अच्छी तरह नहीं चलाया जा सकता। इसलिए प्रशासन की दृष्टि से जम्मू और लद्दाख दोनों ही के नेता यह मांग करते रहे हैं कि राज्य के तीन हिस्से कर दिए जाने चाहिए जिसके तहत जम्मू के लिए पृथक राज्य और लद्दाख के लिए पृथक केंद्र शासित राज्य की मांग स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय से ही की जाती रही है।

स्मरणीय है कि जुलाई 1989 में लेह में मुस्लिम और बौद्ध लोगों की भिइंत के बाद से इन दोनों समुदायों में आज तक भी परस्पर विश्वास पैदा नहीं हो सका है। जानकारों का तो यह भी कहना है कि कश्मीर घाटी की राजनीतिक शिक्तयों ने ही सांप्रदायिक धुवीकरण करके अपने हित साधने के लिए लद्दाख के समरस समाज में सांप्रदायिकता का जहर फैलाया। हालांकि लंबे संघर्ष के बाद 7 नवंबर, 1989 को लद्दाख की 8 जातियों को अनुसूचित जनजाति का दर्जा को मिल गया था, लेकिन लद्दाख क्षेत्र के लिए स्वायत पहाड़ी परिषद का अधिनियम 9 मई, 1995 को पारित हो सका। चुनावों के माध्यम से विधिवत परिषद का तो गठन हुआ; परंतु केंद्र शासित राज्य की मांग आज भी बनी हुई है क्योंकि कश्मीर केंद्रित प्रशासन आज तक लद्दाख के लोगों का विश्वास नहीं जीत पाया है। सुरक्षा के लिहाज से अत्यंत महत्वपूर्ण लद्दाख की अवहेलना को वास्तव में राष्ट्रीय हितों को नुकसान पहुंचाने वाला कार्य समझा जाना चाहिए और कश्मीर घाटी की राजनीतिक शक्तियां इसकी दोषी हैं।

लद्दाखियों के घाव बहुत पुराने और बड़े गहरे हैं। कहा जाता है कि इस इलाके के धर्मांतरण की साजिश के तहत बौद्ध मठों की भूमि को हड़पने तक का प्रयास किया गया था। शेख अब्दुल्ला की सरकार ने भोटी भाषा को विधानसभा की आधिकारिक भाषा मानने से इनकार कर दिया था तथा जम्मू और कश्मीर राज्य के प्रथम बजट में लद्दाख का उल्लेख तक नहीं था। अभी तक वहाँ एक विश्वविद्यालय तक नहीं है। इसीलिए भोटी भाषा को भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल करने से लेकर इस क्षेत्र को स्वतंत्र विधायिका युक्त केंद्र शासित राज्य का दर्जा दिए जाने की तक की मांगें आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई हैं।000

(डेली हिंदी मिलाप, 04/12/2018)

मोदी विरोध में विसर्जित किसान हित

कोई जन आंदोलन जब राजनैतिक पार्टियों की भड़ास निकालने का मंच बन जाता है तो किस प्रकार उसकी हैसियत किसी चुनावी रैली के रूप में सिमट जाती है, इसका अखिल भारतीय किसान संघर्ष समन्वय सिमित द्वारा आयोजित किसान मुक्ति मोर्चा की राजनैतिक परिणित इसका ताज़ा लेकिन चिंताजनक उदाहरण है। भारत भर के 200 से ज्यादा किसान संगठनों ने दिल्ली में जिस प्रकार की एकजुटता का प्रदर्शन किया और दुनिया का ध्यान आकर्षित किया, एक बार तो उससे यही लगा कि अब तक हाशिए पर रखी गईं किसानों की मांगें खेत से संसद तक इस मार्च के रूप में केंद्र की ओर कूच कर रही हैं। महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और दिल्ली में इससे पहले के प्रदर्शनों की तुलना में यह प्रदर्शन इसलिए अधिक महत्वपूर्ण हो गया था कि इस समय पांच राज्यों में विधानसभा चुनाव चल रहे हैं और आम चुनाव-2019 ठीक सामने हैं; जिनके कारण लगभग रोज ही कोई न कोई पार्टी किसी न किसी मंच से किसानों को लुभाने वाली कोई न कोई घोषणा करती नजर आती है। ऐसा करना उनके लिए जरूरी भी है क्योंकि आज भी इस देश की 65 प्रतिशत आबादी कृषि-कर्म पर निर्भर है।

भारत के विभिन्न कोनों-अंचलों से आए किसान अपनी मांगों को पुरजोर ढंग से रखने के लिए दिल्ली में जुटे तो अवश्य; लेकिन विपक्षी दलों की भाषणबाजी ने उनकी पीड़ा के रंग को हल्का कर दिया। वरना चुनावी धक्का-मुक्की में फंसी हुई केंद्र सरकार तो किसानों के इस एके के सामने हक्की-बक्की रह जाने वाली थी। विपक्षी दलों को किसानों के कंधे मिल गए और उन पर चढ़कर उन्होंने केंद्र सरकार तथा मोदी को इतना कोसा, इतना कोसा कि मोदी विरोध की बाढ़ में किसान-हित विसर्जित और तिरोहित हो गए।

किसानों की माँगें वही पुरानी माँगें हैं। एक तो यह कि उनके तमाम कर्ज माफ किए जाएं और दूसरी यह कि फसलों की लागत से डेढ़ गुना समर्थन मूल्य तय किए जाएँ। इसे दूसरी तरह इस रूप में रखा जाता है कि स्वामीनाथन सिमिति की सिफारिशों को अक्षरशः लागू किया जाए। इन मांगों से सत्ता और प्रतिपक्ष में से किसी का भी कोई विरोध नहीं है। फिर भी इस बार की मांगों में नयापन यह था कि जोरदार ढंग से यह कहा गया कि किसानों के कर्ज माफ करने के लिए संसद का विशेष सत्र बुलाया जाए और इसके लिए विधिवत कानून बनाया जाए। तमाम विरोधी दलों

के नेताओं ने उपस्थित होकर इन मांगों का समर्थन ही नहीं किया केंद्र सरकार को खूब गरियाया भी। यदि ऐसा ही है तो फिर सत्ता और प्रतिपक्ष एक साथ बैठकर ऐसा कानून बना क्यों नहीं देते? इसमें भी कोई दो राय नहीं कि कर्जमाफी किसानों की हालत सुधारने का बहुत संगत उपाय नहीं हो सकता, लेकिन छोटे किसान जिस प्रकार कर्ज में इबे हए हैं उससे उबरने का कोई दूसरा रास्ता है भी नहीं।

अब तक सभी दल शायद यह सोच कर किसानों की उपेक्षा करते आए हैं कि वे संगठित नहीं है। लेकिन जिस प्रकार से अब किसान संगठित दिख रहा है, अगर अपने इस एके को वह एकजुट वोट में बदल दे तो किसी भी चुनाव में बाजी पलट सकता है। यह बात सभी राजनैतिक दलों की समझ में आ जानी चाहिए। शायद आ भी रही है। इसीलिए सब उसे अपने पाले में खींचने की कोशिश कर रहे हैं। ऐसे में किसानों को बड़ी समझदारी से आगे बढ़ना चाहिए वरना उनकी एकता और मुक्ति-कामना सब राजनैतिक दलों की महत्वाकांक्षा और आपसी लड़ाई के तख्ते पर फाँसी चढ़ जाएंगे।

अंततः यही कि खेती-किसानी के मुद्दे पर राजनीति नहीं होनी चाहिए; लेकिन यह दुर्भाग्य की बात है कि किसानों की भूख और आत्महत्याओं को राजनीति का मोहरा बनाया जा रहा है। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 03/12/2018)

मंदिर निर्माण के लिए बढ़ता दबाव

विश्व हिंदू परिषद की हुंकार रैली में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रमुख मोहन भागवत ने कहा है कि अब वक्त आ गया है कि सरकारअयोध्या में राम मंदिर निर्माण के लिए अध्यादेश लाए। उन्होंने इस बात को लेकर अप्रसन्नता प्रकट की कि देश के सर्वोच्च न्यायालय के लिए यह विषय प्राथमिक नहीं है जबिक वे चाहते हैं कि अगले आम चुनाव से पहले ही इस मसले पर फैसला हो जाना चाहिए। चुनाव को ध्यान में रखकर उन्होंने सरकार को याद दिलाया है कि यह विषय बहुसंख्यक आबादी की भावना से जुड़ा हुआ है; इसलिए अगर कोर्ट नहीं तो कानून के द्वारा या फिर अध्यादेश लाकर मंदिर निर्माण की राह आसान की जानी चाहिए। उन्होंने साफ-साफ कहा कि अब इस झगड़े को समाप्त किया जाना चाहिए और सरकार को अपनी जिम्मेदारी निभानी चाहिए।

सवाल हो सकता है कि क्या मंदिर बनाना सरकार की जिम्मेदारी है। इसके जवाब के लिए पिछले आम चुनाव को याद करना होगा। उस समय देशभर में वोट मांगते हुए भारतीय जनता पार्टी ने यह वादा किया था कि सत्ता में आए तो हम राम मंदिर का निर्माण करेंगे। इसलिए अगर सत्ता में रहने के लगभग 5 वर्ष होने पर भी अभी तक यह मसला

लटका हुआ है तो सरकार पर दबाव बनाने का मोहन भागवत का विचार अपनी जगह ठीक लगता है। उन्होंने देशवासियों का आह्वान किया है कि अध्यादेश के लिए सरकार पर दबाव बनाएं।

वर्तमान सरकार का कार्यकाल पूरा होने को है इसलिए उससे अपने इस प्रमुख वादे को पूरा करने की उम्मीद करना कोई ज्यादती नहीं। भारतीय जनता पार्टी यह कहती रही है कि हम संविधान में विश्वास करते हैं इसलिए न्याय की प्रतीक्षा में बैठे हैं। लेकिन जबसे सुप्रीम कोर्ट ने यह स्पष्ट किया है कि उसे इस मामले में कोई जल्दी नहीं है तबसे विहिप और आरएसएस को यह लगने लगा है कि वहां मंदिर का मुद्दा लटका ही रह जाएगा। इसलिए सरकार पर दूसरा संभव मार्ग अपनाने के लिए दबाव बढ़ाने की नीति अपनाई जा रही है।

इस स्थिति का लाभ लेने के लिए शिवसेना भी मैदान में कूद पड़ी है। उसने भी विश्व हिंदू परिषद के सुर में सुर मिलाकर धर्मसभा में दलबल सहित अपनी उपस्थिति दर्ज कराई और लगभग धमकी देने के अंदाज में यहां तक कह दिया है कि मंदिर नहीं बनेगा तो सरकार भी नहीं बनेगी! इन हालात में केंद्र सरकार सांप-छछूंदर की गति में फंस गई है। तुरत-फुरत मंदिर निर्माण के लिए नया कानून बनाना न तो सरल है और न इतनी जल्दी संभव ही। रही अध्यादेश लाने की बात; तो उसके भी कई पहलू हैं। फिर भी अगर सरकार अध्यादेश लाए तो यह संदेश जाएगा कि उसे देश की न्यायप्रणाली और उच्चतम न्यायालय में विश्वास नहीं रहा और यह संदेश किसी भी प्रकार लोकतंत्र के लिए श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता।

स्मरणीय है कि न्यायालय यह भी कह चुका है कि संत समाज और सभी धार्मिक राजनीतिक दल अगर मिल-बैठकर कोई सर्वमान्य हल इस समस्या का निकाल लें तो मंदिर निर्माण की राह आसान हो सकती है। लेकिन कुछ ऐसे मुद्दे फंसे हुए हैं जिनके कारण यह भी आसान नहीं दिखाई देता। विश्व हिंदू परिषद पूरी भूमि पर मंदिर निर्माण की मांग करता है जबिक न्यायालय ने कुछ हिस्सा बाबरी मिस्जिद के दावेदारों को भी दिए जाने की बात कही थी। फिर भी अगर हम एक जिम्मेदार लोकतंत्र हैं तो व्यापक जनभावना से जुड़े इस मसले को मिल-बैठकर सुलझाना सर्वोत्तम विकल्प है।

इतना तो कहा ही जा सकता है कि आने वाले समय में केंद्र सरकार के ऊपर राम मंदिर बनाने को लेकर चौतरफा दबाव पड़ने वाला है। देखना होगा कि सरकार उसका सामना किस प्रकार करती है। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 27/11/2018)

जैसे-जैसे चुनावी बुखार चढ़ता जाता है, वैसे-वैसे नेताओं की भाषा शिष्टाचार की सीमाएं तोड़कर प्रलाप में बदलती जाती हैं। राजनीति की भाषा में नैतिकता और सभ्यता के ग्राफ का इस तरह लगातार गिरना लोकतंत्र की सेहत के लिए बिलकुल भी वांछनीय नहीं है। दिन-प्रतिदिन इसके शर्मनाक उदाहरण बढ़ते ही जा रहे हैं। सबसे ताजा उदाहरण इंदौर का है जहां विपक्ष के एक स्वनामधन्य अभिनेता (नेता) ने अपनी चुनावी रैली में प्रधानमंत्री की माताजी का बाकायदा नाम लेकर उनकी उम्र की तुलना रुपये की मौजूदा स्थिति से कर डाली और प्रधानमंत्री को मनहूस घोषित कर दिया। हद तो यह कि इस बयान पर आपित उठने पर उनकी पार्टी यह कहते हुए उन्हें बचाने भी आ गई कि प्रधानमंत्री भी इसी तरह से गांधी-नेहरु परिवार का जिक्र करके राजनीतिक हमले करते रहे हैं तथा अपने भाषणों में खुद ही तेल की गिरती कीमतों को लेकर खुद को किस्मतवाला कह चुके हैं, तो फिर अगर तेल की बढ़ती कीमतों को लेकर उन्हें मनहूस कह दिया गया तो क्या गलत किया!

अफसोस की बात यह भी है कि भाषायी शिष्टाचार को नष्ट करने का यह कृत्य किसी एक नेता या किसी एक पार्टी तक सीमित नहीं हैं। कोई भी दल गाली-गलौज से परहेज करता नहीं दिखाई देता। अंतर बस गालियों के चुनाव और उनके इस्तेमाल की इंटेंसिटी का है। जो भाषा के जादूगर हैं वे ट्यंग्य और कटाक्ष का सहारा लेकर गाली देते हैं और जो बाज़ार की भाषा के माहिर हैं वे सीध-सीध गाली देते हैं। जनता पर भी शायद सत्ता और प्रतिपक्ष के इस तरह के गाली-युद्धों का अब असर होना बंद हो गया है। फिर भी स्तरहीन भाषा उसके मन में इन राजनीतिबाज़ों के प्रति गुस्सा तो जगाती ही है। इसीलिए कांग्रेस अध्यक्ष को अपने एक अन्य स्वनामधन्य नेता के उस 'जोश' भरे बयान पर बगलें झाँकनी पड़ गईं जिसमें उन्होंने श्रीनाथद्वारा में दिए अपने भाषण में प्रधानमंत्री समेत कई सारे नेताओं से उनकी जाति पूछ डाली थी। इस पर पार्टी अध्यक्ष को सफाई में यहाँ तक कहना पड़ा कि यह बयान पार्टी के आदर्शों के खिलाफ है। उन्होंने यह नसीहत भी दी कि पार्टी के नेता ऐसा कोई बयान न दें जिससे समाज के किसी भी वर्ग को दुख पहुंचे और उम्मीद जताई कि पार्टी के सिद्धांतों और कार्यकर्ताओं की भावना का आदर करते हुए उन स्वनामधन्य नेता को अपने बयान पर अफसोस प्रकट करना चाहिए।

यहाँ प्रश्न उठता है कि, जिन आदर्शों की बात की जा रही है, वे क्या कहीं बचे हुए हैं या चुनावी वोट-भूख की बिल चढ़ गए? राजनीति में आदर्श और नैतिकता बची होती तो चुनावी भाषणों में अशिष्ट शब्दों की बौछार न होती। जनता के वास्तविक सुख-दुख पर बात होती, उपलब्धियों और चूकों पर सार्थक बहस होती। धर्म और जाति के नाम पर आक्रामक जुमलेबाजी न होती। आदर्शों की दुहाई भी तब पाखंड सिद्ध हो जाती है जब अत्यंत विरष्ठ और पके हुए नेता भी मध्य प्रदेश जैसे राज्य में नब्बे प्रतिशत मुसलमानों के वोटों की जरूरत की चर्चा करते पाए जाते हैं। जैसा कि पहले कहा गया, अशोभनीय प्रलाप की यह बीमारी किसी एक पार्टी या नेता तक सीमित नहीं है। अगर बात-बात पर हर विरोधी को देशद्रोही और पाकिस्तान चले जाने को कहकर हड़काने वाले थोक में उपलब्ध हैं, तो अपने राजनैतिक विरोधियों को अलंकृत करने के लिए अपनी ज़बान के अगले हिस्से से साँप, बिच्छू, नीच और जोकर जैसी उपाधियाँ टपकाते फिरने वालों की भी कमी नहीं है।

अभिप्राय यह है कि समसामयिक चुनावी राजनीति का पूरा परिवेश चूंकि बेहद जहरीला हो चुका है, इसलिए उसकी भाषा भी सभ्यता और संस्कृति की मर्यादाएँ लांघ रही है। राजनीति में नैतिकता आए, तो भाषा भी संयत और शिष्ट हो जाएगी। अफसोस कि फिलहाल यह होता नज़र नहीं आता! 000

लोकतंत्र को बचाने के लिए!

जम्मू और कश्मीर राज्य में परस्पर विरोधी विचारधाराओं वाली पार्टियां – पीडीपी, नेशनल कॉन्फ्रेंस और कांग्रेस - मिलकर नई सरकार बनाने के लिए जुगाड़ भिड़ा ही रही थीं कि राज्यपाल सत्यपाल मिलक ने रातोंरात विधानसभा भंग कर दी। राज्यपाल का मुख्य तर्क यह है कि वे किसी 'अयोग्य गठबंधन' को मौका नहीं देना चाहते थे। वैसे वे पहले भी यह संकेत दे चुके थे कि शांतिपूर्ण चुनाव की संभावनाओं को खंगालकर वे उचित अवसर देखकर जम्मू और कश्मीर की विधानसभा को भंग करेंगे ही। इसके साथ ही, लोकसभा चुनाव के साथ 2019 में जम्मू और कश्मीर विधानसभा के चुनाव का भी रास्ता खुल गया है।

संभावित गठबंधन को अयोग्य मानने का यह कारण बताया जा रहा दिया है कि इसमें शामिल पार्टियां एक ओर तो परस्पर विपरीत विचारधाराओं वाली होने के कारण स्थिर सरकार देने की योग्यता नहीं रखती थीं और दूसरी ओर इस बहाने विधायकों की खरीद-फरोख्त की पूरी संभावना थी। अस्थिर सरकार को अवांछित सिद्ध करने के लिए सुरक्षा की दृष्टि से जम्मू और कश्मीर की संवेदनशीलता का भी हवाला दिया गया है। यह भी कहा गया है कि पिछले दिनों वहाँ हुए निकाय और पंचायत चुनावों में भले ही मतदान का प्रतिशत कम रहा हो लेकिन हिंसा नहीं हुई; इसलिए अब नई विधानसभा के लिए चुनाव का वातावरण तैयार हो चुका है।

विपरीत विचारधाराओं के आधार पर गठबंधन को अपवित्र और अयोग्य मान लेने का तर्क के जवाब में यह याद दिलाया जा रहा है कि 2015 में जिन दो पार्टियों (भारतीय जनता पार्टी और पीडीपी) ने गठबंधन सरकार बनाई थी, वे भी तो पूरी तरह विपरीत धुवों के समान थीं। यदि उनका साथ आना पवित्र गठबंधन हो सकता है तो अब अन्य पार्टियों का परस्पर साथ आना अपवित्र कैसे हो गया। दूसरी ओर यह भी सच है कि लोकतंत्र की तमाम दुहाइयों के बावजूद उत्तर प्रदेश से लेकर आंध्र प्रदेश तक ऐसे अनेक उदाहरण इतिहास में उपलब्ध हैं जब राज्यपालों ने अपने विवेक के अनुसार विधानसभाएँ भंग की हैं – केंद्र के इशारे पर। यह भी किसी से छिपा नहीं है कि राज्यपाल राज्य में केंद्र के प्रतिनिधि होते हैं और उनसे यह उम्मीद नहीं की जानी चाहिए कि वह न्यायपालिका बन जाएँ। इसीलिए तो उनके आदेश या निर्णय के विरुद्ध न्यायालय का रास्ता खुला हुआ है। स्मरणीय है कि 2009 में कर्नाटक के तत्कालीन राज्यपाल हंसराज भारद्वाज ने खरीद-फरोख्त के आरोप के तहत ही वहां भाजपा की येदियुरप्पा सरकार को बर्खास्त किया था। अभिप्राय कि, लोकतंत्र की रक्षा की दुहाई देते हुए स्वविवेक से निर्णय करना राज्यपाल के अधिकार-क्षेत्र में है और उसे चुनौती देना भी संभव है। देखना होगा कि पीडीपी केवल मीडिया और सोशल मीडिया दवारा ही अपना विरोध जताती रहेगी या कोर्ट का दरवाजा खटखटाएगी।

वैसे जानकारों का यह भी कहना है कि विधानसभा भंग करके एक प्रकार से राज्यपाल ने भाजपा विरोधी दलों की इच्छा को ही सम्मान दिया है। ये दल महीनों से यही मांग तो कर रहे थे। दरअसल इन दलों को यह डर हो चला था कि कहीं भाजपा कुछ अन्य विधायकों से सहयोग लेकर स्वयं नई सरकार न बना ले। इसीलिए उन्होंने परस्पर मिल- बैठकर नई सरकार बनाने के प्रस्ताव का दांव फेंका। इसके परिणाम से वे पहले ही अवगत थे; और हुआ भी वही, कि विधानसभा भंग कर दी गई ताकि विपक्षी गठबंधन सरकार बनाने में सफल न हो सके!

एक और बात। इस सारे घटनाक्रम से कांग्रेस यह संदेश देने में सफल होती दिखाई दे रही है कि भारतीय जनता पार्टी को रोकने के लिए वह किसी भी हद तक जाने को तैयार है। वह शहीद के अंदाज़ में कहेगी कि हम तो पीडीपी के साथ मतभेद भुलाने को तैयार थे, राज्यपाल ने मौका नहीं दिया। इससे लोकसभा चुनाव में विपक्षी महागठबंधन के लिए सहायता मिल सकती है!000

(डेली हिंदी मिलाप, 24/11/2018)

मतदाता की उदासीनता का अर्थ

छतीसगढ़ में विधानसभा चुनाव के लिए हुए मतदान के ताज़ा आंकड़ों से यह पता चला है कि ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में शहरी क्षेत्रों में मतदान का प्रतिशत काफी कम रहा है। इसका यह भी अर्थ निकाला जा रहा है कि पढ़े-लिखे मतदाता की तुलना में अनपढ़ या कम पढ़े लिखे मतदाता वोट देने में अधिक रुचि रखते हैं जबिक शिक्षित और शहरी मतदाता मतदान के प्रति वैसी रुचि नहीं दर्शाते। जब भी मतदान के प्रति उदासीनता की चर्चा होती है, तब-तब यह सुझाव भी आता है कि मतदान को अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। लेकिन वोट न डालने को वोटर की उदासीनता मान लेना या उसे सोया हुआ मान लेना उचित नहीं है। दरअसल वोट न डालना बड़ी हद तक इस बात का भी प्रतीक है कि उस मतदाता को कोई उचित उम्मीदवार ही नहीं दिखाई दे रहा। इसलिए वोट न डालना भी एक प्रकार से 'नोटा' (नन ऑफ द अबव) विकल्प के समान ही है।

इसमें दो राय नहीं कि चुनाव अपने आप में एक बाजार की तरह है जहां वोटर खरीदार है, उम्मीदवार उत्पाद तथा पार्टियां विक्रेता। किसी भी बाजार की तरह ही इस बाजार में भी उत्पाद की गुणवत्ता में सुधार तभी होगा जब खरीदार यह संकेत दें कि उन्हें 'कुछ और' चाहिए। अब अगर बाजार में बिकने वाला कोई भी उत्पाद आपको पसंद नहीं तो आपके सामने दो विकल्प होते हैं - एक यह कि 'सबसे कम बुरी' वस्तु खरीद ली जाए और दूसरा यह कि 'कुछ भी न' खरीदें। अगर आप सबसे कम बुरी वस्तु खरीदते हैं तो एक ऐसी दौड़ शुरू हो जाती है जो स्तरहीन माल को बाजार में उतारती है क्योंकि विक्रेता को पता चल चुका होता है है कि आप खोटा माल भी खरीद लेंगे। इसके विपरीत, अगर आप कुछ नहीं खरीदते हैं तो विक्रेता को यह संकेत जाता है कि ये सब वे लोग हैं जिनके पास आवश्यकता है पर वह आवश्यकता इस समय उपलब्ध वस्तु से पूरी नहीं हो रही। ऐसे में नए विक्रेता बेहतर विकल्प लेकर बाजार में

उत्तरते हैं। उदाहरण के लिए, अरविंद केजरीवाल ने यही किया और दिल्ली के मुख्यमंत्री बन गए। अगर यह कहा जाए कि वोट न देने से यह संदेश जाता है कि वोटर उदासीन है तथा उसकी लोकतंत्र में कोई रुचि ही नहीं है तो यह गलत होगा। इसके उलट यह ज़रूरी नहीं है कि तथाकथित अशिक्षित वोटर लोकतंत्र में निष्ठा के कारण ही वोट देने बड़ी संख्या में पहुंचता हो। चुनावी राजनीति में धर्म, भाषा, जाति, लोभ और भय की भूमिका किसी से छिपी नहीं है। इसलिए बहुत संभव है कि ईमानदार विकल उपलब्ध न होने के कारण तथाकथित शहरी और शिक्षित मतदाता चुनाव से दूर रहता हो। इसलिए मौजूदा हालात में वोट न डालने और 'नोटा' चुनने में कोई फर्क नहीं है। वोटर को कोई भी उपलब्ध वस्तु पसंद नहीं इसलिए वह उदासीन है; पर सही वस्तु मिले तो वह बाजार में लौट आएगा। आज किसी को भी वोट न देना, उसे अधिक सुरक्षित विकल्प लगता है - फायदेमंद भी।

अंततः इतना ही कि वोट डालने न जाने वालों को सोता हुआ मान लेना और उन्हें कोसना उचित नहीं है। चुनाव या मतदान में उनकी अरुचि के लिए चुनाव-मैदान रूपी बाजार में उनकी मांग के अनुरूप सही माल अर्थात सही प्रत्याशी की अनुपलब्धता जिम्मेदार है। वैसे अनिवार्य वोटिंग की तुलना में एक बेहतर विकल्प यह भी हो सकता है कि जैसे कुछ देशों में 'जूरी ड्यूटी' होती है तथा सब नागरिकों को कभी न कभी 'जूरी' पर होना ही होता है, वैसे ही विधायक और सांसद भी नियुक्त होने चाहिए। इससे राजनीति को व्यवसाय बनाने वाले हतोत्साहित होंगे। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 23/11/2018)

विपक्ष के कुनबे में चेहरे ही चेहरे

लोक सभा आम चुनाव-2019 में भारतीय जनता पार्टी को मिलकर चुनौती देने के उद्देश्य से महागठबंधन की रणनीति तय करने के लिए 22 नवंबर, 2018 की विपक्षी दलों की घोषित बैठक फिलहाल जनवरी तक टल गई है। इससे इतना अवश्य साफ हो गया है कि विपक्ष के इस कुनबे के नेतृत्व के लिए किसी एक सर्वमान्य चेहरे की तलाश अर्थहीन है। यह बात ऊपर से देखने में काफी लोकतंत्रात्मक सी लग सकती है कि प्रस्तावित गठबंधन में शामिल होने वाले सभी दल गठबंधन के चेहरे होंगे अर्थात जितने दल उतने ही चेहरे। लेकिन दूसरी ओर इससे यह भी पता चलता है कि कुनबे में कोई एक परस्पर स्वीकार्य चेहरा नहीं होने के कारण इसमें आरंभ से ही बिखराव की स्थितियां बनी रहेंगी।

विपक्ष को एकजुट करने के लिए अपने-अपने स्तर पर अलग-अलग प्रयास में जुटे हुए आंध्र प्रदेश और पिश्चम बंगाल के मुख्यमंत्रियों की मुलाकात से बस इतनी तो सहमित बन सकी कि विपक्षी दलों का साथ आना वर्तमान समय की लोकतांत्रिक 'विवशता' है लेकिन साझा चुनौती के साझा चेहरे के सवाल पर चंद्रबाबू नायडू को यही कहना पड़ा कि महागठबंधन में हर कोई चेहरा होगा। उनकी समझ में आ गया है कि ममता बनर्जी उन्हें तो वह चेहरा बनने नहीं देंगी क्योंकि उनकी स्वयं यही इच्छा है। उधर नायडू की उत्कंठा भरी भागदौड़ देख ममता बनर्जी भी समझ गई होंगी कि वे गठबंधन का चेहरा बनने की दीदी की महत्वाकांक्षा के आड़े आ रहे हैं। इसलिए उन्होंने भी साफ कर दिया कि गठजोड़ की तो उनकी इच्छा है लेकिन यह गठजोड़ किसी एक चेहरे को लेकर चुनाव में नहीं उतरेगा बल्कि सब अपने-अपने चेहरों के साथ जनता के बीच जाएंगे। शायद इसे ही 'असहमत होने के लिए सहमत' होना कहते हैं!

चंद्रबाब् नायड् और ममता बनर्जी की यह आपसी मुलाक़ात इस कारण महत्वपूर्ण समझी जा रही थी कि दोनों ने अभी-अभी अपने-अपने राज्यों में सीबीआई के प्रवेश पर पाबंदी लगाकर भारतीय फेडरलिज़्म के खिलाफ बागी तेवर दर्शाया है। इससे उत्साहित होकर ही शायद नायडू कोलकाता बनर्जी से मिलने पहुंच गए। उन्हें शायद लगा हो कि 'समान विचारधारा' इसी का नाम है। परंतु ममता बनर्जी के ठंडे रवैये से उनके उत्साह का गुब्बारा फुस्स हो गया लगता है।

यह किसी से छिपा नहीं है कि ये दोनों ही मुख्यमंत्री अपनी-अपनी महत्वाकांक्षाओं के चलते अलग-अलग स्तर पर विपक्षी कुनबे को जोड़ने के लिए अपने-अपने प्रयासों में लगे हुए हैं। जहां ममता बनर्जी ने 19 जनवरी,2019 को विपक्ष की महारैली करने की घोषणा कर रखी है वहीं नायडू भी अपनी सियासी गोलबंदी के तहत कांग्रेस, एनसीपी, जेडीएस, डीएमके, आम आदमी पार्टी और नेशनल कॉन्फ्रेंस के नेताओं से मुलाकात करते घूम रहे हैं। इसमें उनका तीसरे मोर्चे का पुराना अनुभव भी काम आ रहा है। सबको पता है कि दोनों ही के मन में खुद को एकता के चेहरा के रूप में पेश करने की दबी हुई इच्छा है और इस इच्छा के चलते ही अहम का टकराव भी होना ही है। इसलिए मजबूरी है कि सब अलग चेहरों को मान्यता दी जाए। इसके अलावा यह भी साफ है कि समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी महागठबंधन के इच्छुक होते हुए भी फिलहाल कांग्रेस के साथ अपनी निकटता को नहीं जताना चाहते क्योंकि उन्हें विधानसभा चुनाव-2018 में इससे नुकसान होने की आशंका है। मायावती और अखिलेश यादव ऐसे चेहरे नहीं है जो किसी और चेहरे के पीछे रहना स्वीकार करें इसलिए 'बहु-चेहरावाद' ही एकमात्र विकल्प बचता है।

अंततः यही कि किसी नीतिकार ने क्या खूब कहा है कि 'जिस राष्ट्र में अनेक नेता हों, सारे खुद को विद्वान मानते हों और सारे महत्वाकांक्षी हों, वह राष्ट्र नष्ट हो जाता है।' (तो यह तो केवल कुछ पार्टियों का कुनबा है!) 000

(डेली हिंदी मिलाप, 21/11/2018)

रिश्ता वोट का शराब से

छतीसगढ़ में विधानसभा चुनाव के मौके पर जारी घोषणापत्र में कांग्रेस ने यह वादा किया है कि अगर उनकी पार्टी सत्ता में आएगी तो राज्य में शराबबंदी लागू करेगी। पहली नज़र में भले ही यह बात साधारण सी लग सकती हो लेकिन इसका निशाना छतीसगढ़ का महिला वोटर है क्योंकि पुरुषों की शराब पीने की लत के कारण वहाँ की लाखों महिलाएं नारकीय जीवन जी रही हैं और उससे किसी भी प्रकार मुक्त होना चाहती हैं। वर्तमान भाजपा सरकार और उसके मुख्यमंत्री भी छतीसगढ़ की महिलाओं की इस समस्या से परिचित रहे हैं, लेकिन उनकी कथनी और करनी के बीच बड़ी फाँक दिखाई देती है। कांग्रेस इस स्थित का फायदा उठाना चाहती है।

दरअसल शराबबंदी की मांग को देखते हुए पिछले वर्ष मुख्यमंत्री ने महिलाओं को वचन दिया था कि उनकी सरकार शराब पर धीरे धीरे प्रतिबंध लगाएगी। लेकिन संभवतः वितीय कारणों से सरकार ऐसा नहीं कर सकी क्योंकि वर्तमान सरकार के राजस्व का एक बड़ा हिस्सा शराब की बिक्री से आता है। वैसे भी पिछले साल से सरकार ने शराब की बिक्री की जिम्मेदारी सीधे अपने हाथों में ले रखी है और एक सरकारी निगम के माध्यम से यह कार्य संपन्न किया जाता है। रोचक बात यह भी है कि इस साल शराब की बिक्री से होने वाली कमाई का लक्ष्य पिछले वर्षों की तुलना में और भी बढ़ा दिया गया है। 2018-19 में सरकार ने 3700 करोड़ रुपए का लक्ष्य रखा है। जानकारों का कहना है कि 2.6 करोड़ की आबादी वाले छत्तीसगढ़ के लिए यह आंकड़ा अपने से 4 गुना बड़े राज्य बिहार की अप्रैल 2016 की शराब बिक्री से होने वाली आय के बराबर है (उसके बाद से वहाँ शराबबंदी लागू है)। इसलिए अगर भाजपा को यह लगता है कि चुनाव में शराब कोई मुद्दा ही नहीं है तो ऐसा सोचना उनकी मजबूरी है। यह भी तर्क दिया जाता है कि शराबबंदी करना कोई आसान काम नहीं है। इसके अलावा, शराबबंदी से जो वितीय हानि होगी, उसकी भरपाई कहाँ से की जाएगी; यह भी एक अन्तरित यक्ष प्रश्न है।

वैसे इसमें कोई दो राय नहीं कि शराब की खपत छत्तीसगढ़ में बेहद खतरनाक स्थिति तक पहुंची हुई है। कहा जाता है कि शाम होते ही शराब की दुकानों के आगे ग्राहक मधुमिक्खियों की तरह आकर जमा हो जाते हैं। हर मोहल्ले में शराब की दुकानें हैं जो राजस्व बटोरने की खातिर अपने नागरिकों के जीवन से खिलवाड़ कर रही हैं। कहना ही होगा कि इसकी सबसे बड़ी मार महिलाओं के ऊपर पड़ती है। पुरुष तो शराब पीते हैं और पड़े रहते हैं। महिलाएं दिन रात मेहनत मजदूरी करके जो कुछ कमाई करती हैं, मारपीट करके या धोखाधड़ी करके नशाखोर पुरुष उसे भी हथिया लेते

हैं, लूट लेते हैं। बहुत से घरों में तो पुरुषों और महिलाओं का एक साथ बैठकर शराब पीने का भी चलन है। इन सब कारणों से राज्य में शराबबंदी लागू किए जाने की मांग लंबे समय से चली आ रही है।

स्मरणीय है कि वर्तमान सरकार ने शराब पर प्रतिबंध लगाने के अपने आश्वासन को पूरा भले न किया हो, लेकिन लोगों को शराब के बारे में जागरूक करने का अभियान जरूर चलाया। यह भी नियम लागू किया गया कि एक बार में लोग एक निश्चित मात्रा से अधिक शराब नहीं खरीद सकते। परंतु ऐसे सुधारात्मक प्रयासों का कोई प्रभावी परिणाम सामने आया नहीं। इसलिए इस चुनाव में शराबबंदी के एक महत्वपूर्ण मुद्दा बन कर उभरने की उम्मीद है। ऐसा हुआ और इस मुद्दे पर कांग्रेस महिलाओं के वोट को प्रभावित कर सकी, तो शराब रमन सिंह के राजनीतिक स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकती है! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 15/11/2018)

तेलंगाना चुनाव : मुद्दों का अभाव!

मध्य प्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़ और मिजोरम के साथ-साथ तेलंगाना राज्य में विधानसभा चुनाव की दुंदुभि बज चुकी है। आगामी 7 दिसंबर को तेलंगाना राज्य की 119 विधानसभा सीटों के लिए मतदान होने जा रहा है, लेकिन कोई बढ़ा प्रश्न या मृद्दा लहर बनाता हुआ दिखाई नहीं दे रहा।

इसमें संदेह नहीं कि सत्तासीन तेलंगाना राष्ट्र समिति (तेरास) इस नए राज्य के गठन के लिए अपने आंदोलन और संघर्ष की कहानियों को दोहरा कर जनता को इस बार भी आकर्षित करने का प्रयास कर रही है। पार्टी अपने नायक के. चंद्रशेखर राव के नेतृत्व में तेलंगाना आंदोलन और निर्माण के श्रेय को एक बार फिर भुनाने के लिए पूर्णतः आशावान है। यही वह मुद्दा है जिसे केंद्र में रखकर वह चंद्रबाबू नायुडु के नेतृत्व वाली तेलुगु देशम पार्टी (तेदेपा) पर हमलावर रह सकती है क्योंकि उसने तेलंगाना के अलग राज्य के रूप में गठन का विरोध किया था।

तेलंगाना राष्ट्र समिति अपनी सरकार के दौरान किए गए कार्यों और उसकी उपलिब्धियों को गिनवाने का भी काम कर रही है। आर्थिक और सामाजिक मोर्चे पर अपने कामों की ओर ध्यान दिलाकर वोट की अपील करना उसके लिए स्वाभाविक भी है। किसानों के लाभार्थ चलाई गई रयतु बंधु योजना, सिंचाई के क्षेत्र में लाई गई मिशन काकतीय योजना और जमीन के मामले में रिकॉर्ड दुरुस्त करने की पहल जैसी अपनी उपलिब्धियों को जोर-शोर से प्रस्तुत करके तेरास का यह कहना तर्कसंगत लग सकता है कि उसने राज्य को कारोबार सुगमता इंडेक्स की दृष्टि से विशेष रूप से निवेश आकर्षित करने वाले राज्य के रूप में विकसित करने का काम किया है इसलिए इस काम को आगे जारी रखने के लिए वोट की दावेदारी बनती है। इसे तेरास के नेता इस रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं कि उसने इस कार्यकाल के दौरान एक मजबूत राज्य के रूप में तेलंगाना की नीव रखने का काम किया है; अब इस नीव पर भव्य भवन खड़ा करने के लिए तथा विकास की योजनाओं को गित प्रदान करने के लिए उसे आगे भी अवसर प्रदान किया जाना चाहिए।

इसके बावजूद केसीआर की सरकार और पार्टी पर विपक्ष और उसमें भी खासतौर पर भारतीय जनता पार्टी का यह आरोप रहा है कि तेरास परिवारवाद का पोषण करने वाली पार्टी साबित हुई है। भाजपा इस मुद्दे को लेकर लगातार हमलावर है कि पिछले कार्यकाल में के. चंद्रशेखर राव अपने पुत्र, पुत्री और भतीजे को ही स्थापित करने में लगे रहे। इस मुद्दे के साथ समस्या यह है कि जनता परिवार को महत्व देने के मामले में यह देख पा रही है कि प्रायः सभी पार्टियां एक जैसे चरित्र वाली है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि परिवारवाद बनाम राष्ट्रवाद का मुद्दा मतदाता को उद्वेलित करने वाला है अथवा नहीं।

कांग्रेस के पास भी कोई खास मुद्दा है नहीं। वह लोगों को याद दिलाना चाहती है कि अलग राज्य के रूप में तेलंगाना के गठन का श्रेय सबसे पहले उसे जाता है क्योंकि इसमें उसकी तत्कालीन अध्यक्ष सोनिया गांधी की रुचि और भूमिका सबसे अधिक महत्वपूर्ण रही थी। उनके माध्यम से कांग्रेस ने इस राज्य के बारे में जो सपने देखे थे, वर्तमान तेरास सरकार उन्हें साकार करने में असमर्थ रही है इसलिए कांग्रेस का दावा है कि सपनों को पूर्ण करने के लिए वह इस बार सता की दावेदार है। लेकिन उसकी समस्या यह भी है कि वह यह चुनाव तेलुगु देशम पार्टी के साथ मिलकर लड़ रही है जो आरंभ से ही अलग तेलंगाना राज्य के गठन की विरोधी पार्टी रही है। अंततः तेलंगाना आंदोलन और पृथक राज्य गठन का श्रेय, विकासशील योजनाओं को गति देना और परिवार तथा राष्ट्रवाद ही ले-देकर ऐसे मुद्दे हैं जिनके भरोसे तेलंगाना राज्य के विभिन्न राजनीतिक दल विधानसभा चुनाव के मैदान में ताल ठोक रहे हैं।

(डेली हिंदी मिलाप, 14/11/2018)

कर्नाटक उपचुनाव : नतीजों से सबक

कर्नाटक में संपन्न बेल्लारी, शिमोगा तथा मांड्या की 3 लोकसभा सीटों और रामनगरम तथा जामखंडी की 2 विधानसभा सीटों पर उपचुनाव के नतीजे भले ही आगामी लोकसभा आम चुनाव के बारे में किसी रुझान के सूचक न हों, तो भी भारतीय जनता पार्टी और विपक्षी पार्टियों के लिए उनमें कुछ न कुछ सबक जरूर निहित है। भाजपा और उसके सहयोगियों को यह बात समझ आ जानी चाहिए कि गठबंधन की चुनौती को वे हल्के में नहीं ले सकते। कांग्रेस और उसके सहयोगियों को भी यह सुनिश्चित करना होगा कि गठबंधन में शामिल दल सीटों के बंटवारे के विवादों से ऊपर उठकर एक दूसरे के लिए इस प्रकार प्रचार करें कि एक के प्रति निष्ठा रखने वाला वोट उसके इशारे पर सहजता से दूसरे के खाते में जा सके। कांग्रेस और जनता दल (एस) का वोटों की अदला-बदली का यह तालमेल अगर लोकसभा चुनाव के समय बनने वाले किसी भी गठबंधन के घटक दलों के बीच भी ऐसी ही सफलता के साथ घटित हो सके, तो भारतीय जनता पार्टी के लिए उससे पार पाना आसान नहीं होगा।

खासतौर से बेल्लारी लोकसभा सीट का हाथ से निकल जाना भाजपा नेतृत्व के लिए बड़ी चिंता का सबब है। यहां भाजपा उम्मीदवार जे. शांता को बीएस उग्रप्पा ने दो लाख 87 हजार वोटों से हरा दिया; जबिक इस सीट पर 2014 में शांता के बड़े भाई श्रीरामुलु ने 90 हज़ार के अंतर से जीत दर्ज की थी। श्रीरामुलु ने 6 महीने पहले विधानसभा के लिए चुने जाने पर इस सीट से इस्तीफा दे दिया था। इसे जनार्दन रेड्डी के माध्यम से भाजपा के प्रभाव वाली सीट माना जाता रहा है, जिन्हें खदान घोटाले में फंसने के बाद भाजपा से निकाल दिया गया था। माना जा रहा है कि उनके विवादास्पद बयानों ने भी भाजपा को काफी नुकसान पहुंचाया है। भाजपा को एक तरफ तो यह ख्याल रखना होगा कि जरूरी नहीं कि किसी नेता का भूतकाल का दबदबा वर्तमान में भी काम आ जाए तथा दूसरी ओर अपने बड़बोले नेताओं को नित नए विवाद खड़े करने से रोकना होगा। ऐसे बयान प्रायः अहंकार का पता देते हैं जिसे आमतौर पर जनता पसंद नहीं करती।

कांग्रेस को भी इस कामयाबी से फूल नहीं जाना चाहिए। जीत का सेहरा अपने-अपने सिर बांधने का उतावलापन भी कुछ नेताओं को हास्यास्पद बना सकता है। डी के शिवकुमार भले ही बड़े रणनीतिकार के रूप में सामने आ रहे हों, लेकिन उनके द्वारा वीएस उग्रप्पा की जीत को वाल्मीिक समुदाय की जीत के रूप में प्रोजेक्ट करना जाति और संप्रदाय के कोण की मुखरता दर्शाता है। कुमारस्वामी के उत्साह का तो कुछ ठिकाना ही नहीं है। उन्होंने अपने गठबंधन के लिए 28 में से 24 सीटें अभी से जीती हुई मान ली हैं। ऐसे अतिविश्वास से भी गठबंधन को बचना होगा।

स्मरणीय है कि दक्षिण में भाजपा के प्रवेश और विस्तार के लिए कर्नाटक पहले द्वार की तरह है। तटीय कर्नाटक में भाजपा का अच्छा असर है लेकिन कांग्रेस-जेडीएस गठबंधन उसे तगड़ी चुनौती देता दिखाई दे रहा है। जानकारों का मानना है कि कर्नाटक में कमजोर पड़ती दीखने पर भाजपा दक्षिण के अन्य प्रांतों में भी अपनी संभावनाएं खो सकती है। इसलिए भाजपा नेतृत्व को कर्नाटक पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान देना ही होगा।

अंततः, कर्नाटक उपचुनाव के ये नतीजे कम से कम यह तो जताते ही हैं कि अगर विपक्षी पार्टियों के गठबंधन के बीच सीटों का बंटवारा संतोषजनक ढंग से हो तथा एक पार्टी दूसरी पार्टी के वोट न काटे बल्कि एक का वोट दूसरे को मिल जाए, तो भाजपा या राजद के समक्ष आगामी चुनाव में बड़ी चुनौती खड़ी हो सकती है। इसके विपरीत अगर घटक पार्टियों का आपसी असंतोष तथा मतभेद हावी हो जाए, तो उसका लाभ भाजपा को मिलना तय है। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 08/11/2018)

विधानसभा चुनाव के पहले माओवादी उभार

तेलंगाना राज्य में विधानसभा चुनाव होने में अब केवल एक महीना शेष है। ऐसे वक्त सीमावर्ती जिलों में माओवादी उभार के संकेत सनसनी और चिंता पैदा करने वाले हैं। सीमांत राज्य छत्तीसगढ़ में जारी माओवादियों और केंद्रीय रिजर्व पुलिस बल की मुठभेड़ों को देखते हुए इस चिंता का और भी बढ़ जाना स्वाभाविक है। पिछले दिनों दंतेवाड़ा में माओवादियों ने घात लगाकर पुलिस और पत्रकारों के विरुद्ध हिंसा को अंजाम दिया था। वहाँ पोस्टर लगाने वाली जगह के आसपास भूमिगत विस्फोटक भी पाए गए थे। कहना न होगा कि वैसी ही हिंसक गतिविधियों की आशंका इस क्षेत्र में भी बढ़ गई है।

कुछ दिन पहले तेलंगाना के आला पुलिस अफसरों ने यह सुखद दावा किया था कि यहां माओवादी सिक्रिय नहीं हैं। लेकिन जयशंकर भूपालपल्ली जिले में मिले प्रतिबंधित भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के पोस्टर और करपत्र दूसरी ही कहानी बयान करते प्रतीत होते हैं। इन पोस्टरों और करपत्रों में गांववालों से अपील की गई है कि वे आगामी विधानसभा चुनाव का बहिष्कार करें। शुरू में इस आशय की कुछ झूठी चिट्टियां भी पाई गई थीं लेकिन अब प्राप्त इन पोस्टरों और चिट्ठियों को पुलिस ने वास्तव में प्रतिबंधित पार्टी द्वारा ही जारी माना है। इस प्रकार की

घटनाएं तेलंगाना पुलिस की नींद हराम करने वाली तो हैं ही; जनता को भी अनिश्चितता और असुरक्षा से बेचैन कर देने वाली है।

स्मरणीय है कि तेलंगाना पुलिस विभाग ने विधानसभा चुनाव के मद्देनजर 5 जिलों को अतिसंवेदनशील माना है जिनमें आदिलाबाद, पेद्दापल्ली, भूपाल पल्ली भद्राचलम और खम्मम जिले शामिल हैं। समझा जाता है कि यहां माओवादी एक्शन कमेटियां सिक्रय हैं। इसिलए पुलिस की पहली चिंता इस तमाम क्षेत्र में शांतिपूर्ण ढंग से चुनाव संपन्न कराने की है जबिक माओवादी संगठन चुनावों को बाधित और असफल करने के लिए कमर कसे प्रतीत होते हैं।

चुनाव बहिष्कार की अपील करने वाली प्रचार सामग्री में यह आरोप लगाया गया है कि तेलंगाना के मुख्यमंत्री ने 2014 के चुनाव में किए गए अपने वादों को पूरा नहीं किया है तथा वे तानाशाह की भाँति व्यवहार करते हैं और अपील की गई है कि गांववासियों को उनके खिलाफ विद्रोह करना चाहिए। यह भी कहा गया है कि जब इस इलाके में तेलंगाना राष्ट्र समिति के नेता या उम्मीदवार वोट मांगने के लिए आएँ तो उनसे जवाब तलब किया जाए। इन पोस्टरों में समय-पूर्व चुनाव कराने की भी आलोचना की गई है और इसे लोकतंत्र के खिलाफ घोषित किया गया है। आरोप लगाया गया है कि तेलंगाना में पुलिस राज चल रहा है और आंदोलनकर्ताओं तथा प्रदर्शनकारियों का दमन किया गया है। तेलंगाना राष्ट्र समिति, कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी और नवगठित तेलंगाना जन समिति सहित सभी राजनीतिक दलों को जनविरोधी घोषित करते हुए माओवादी पोस्टरों में यह मांग भी की गई है कि इन जिलों में ओपन कास्ट माइनिंग को त्रंत बैन किया जाना चाहिए।

चिंता का विषय यह भी है कि माओवादी जिस स्थान पर अपने पोस्टर लगाते हैं उसके आसपास जमीन में विस्फोटक भी बिछा देते हैं। इसे देखते हुए यहां भी दंतेवाड़ा (छतीसगढ़) जैसी अप्रिय घटना की आशंका से इनकार नहीं किया जा सकता। इसलिए आम जनता और राजनीतिक हलकों में भय व्याप्त होना स्वाभाविक है। ऐसे में पुलिस और प्रशासन को सबसे पहले तो उम्मीदवारों की चाक-चौबंद सुरक्षा की व्यवस्था करनी होगी। साथ ही यह सुनिश्चित करना होगा कि मतदान अधिकारी और कर्मचारी दूरदराज इलाकों में अपने आप को सुरक्षित महसूस करें और बिना डर के अपने काम को अंजाम दे सकें। पुलिस को यह भी चौकसी बरतनी होगी कि छत्तीसगढ़ में सक्रिय माओवादी एक्शन कमेटी की कोई भी टीम तेलंगाना की सीमा में प्रवेश न कर सके। उम्मीद की जानी चाहिए कि माओवादी चुनौतियों के बावजूद तेलंगाना में विधानसभा चुनाव शांतिपूर्वक संपन्न हो सकेंगे। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 05/11/2018)

क्या बदल रहा है भाजपा का भी चरित्र?

विभिन्न राज्यों में विधानसभा चुनावों के मद्देनजर प्रत्याशियों के चयन और टिकट बंटवारे को लेकर भारतीय जनता पार्टी के भीतर जिस प्रकार की गलाकाट खींचतान और महत्वाकांक्षी नेता-पुत्रों की बढ़ती फौज की खबरें प्राप्त हो रही हैं, उनसे यह संदेश जाना स्वाभाविक है कि जो पार्टी नीयत और नीति के नएपन के दावे के साथ राजनीति में उतरी थी, धीरे धीरे अब उसी रंग में रंग गई है जिसके लिए अपने जन्म से ही वह कांग्रेस की आलोचना करती रही।

इसमें संदेह नहीं कि सभी राजनीतिक दल आरंभ तो किसी ने किसी आदर्श अथवा महान विचारधारा को लेकर होते हैं, लेकिन उस आदर्श या विचारधारा पर कायम रहना आसान नहीं होता। जब तक पार्टी ने सता का स्वाद न चखा हो तब तक कड़वा आदर्श भी स्वादिष्ट लगता है, लेकिन एक बार सत्ता के काजल की कोठरी में घुसने पर कालिख में भी आनंद आने लगता है। जिस प्रकार की लाबिंग बड़े नेताओं के परिवार के सदस्यों की खातिर की जा रही है उससे तो यही लगता है कि सियासत के इस हमाम में सब नंगे हैं – क्या कांग्रेस और क्या भाजपा!

यह कोई भूलने जैसी बात नहीं कि भारतीय जनता पार्टी भ्रष्टाचार और परिवारवाद के विरोध के नारों के साथ सत्ता में आई थी। आज भी सिद्धांत के स्तर पर तो वही दुहाई दी जाती है, लेकिन अब यह किसी से छिपा नहीं है कि अनेक दिशाओं से हर स्तर पर पार्टी भ्रष्टाचार के आरोप झेल रही है। साथ ही, आगामी चुनावों की दहलीज पर जो यह आपाधापी मची है उससे तो यही लगता है कि सबको किसी न किसी प्रकार बस अपने लिए सत्ता चाहिए अर्थात पार्टी अब निजी लाभ की तुलना में पीछे होती जा रही है। अगर जानकारों का यह आकलन सच है तो सचमुच चिंता की बात है।

इस तमान दृश्य को समकालीन चुनावी राजनीति के प्रहसन की विडंबना ही कहें तो ठीक होगा कि एक ओर तो भाजपा अध्यक्ष भारत भर में घूम घूम कर डंके की चोट यह ऐलान कर रहे हैं कि भाजपा आगामी चुनाव में महागठबंधन के रूप में की जा रही विपक्षी एकता की तमाम कोशिशों की धिन्जियां उड़ा देगी तथा दूसरी ओर उनकी अपनी पार्टी बुरी तरह कांग्रेसी चरित्र को अपनाती दिखाई दे रही है। शिवराज सिंह चौहान, सुमित्रा महाजन, कैलाश विजयवर्गीय, नरेंद्र सिंह तोमर, वीरेंद्र सिंह सिसोदिया और गौरीशंकर बिसेन जैसे नामी गिरामी नेताओं का परिवार प्रेम अपनी अपनी संतानों के प्रोमोशन के लिए टिकट का जुगाड़ भिड़ाने के रूप में सामने आ रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप कैडर पर आधारित समझी जाने वाली पार्टी भाजपा के भीतर साफ साफ दिखाई देने वाला रासायनिक परिवर्तन घटित हो रहा है। उपेक्षा का शिकार सामान्य कार्यकर्ता भी अनुशासित ढंग से विरोध प्रदर्शित करने के भाजपा और संघ के पुराने चरित्र की बंदिशों से बाहर आकर बागी तेवर अपना रहा है। मारपीट और मोर्चेबंदी से लेकर शक्ति प्रदर्शन, दबाव तथा 'करो या मरो' के पोस्टर तक इस बदले चरित्र की गवाही देते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि सत्ता का धत्रा खाकर भाजपा भी कुछ-कुछ बौरा गई है। जिस प्रकार का तालमेल सत्ता के बाहर रहते संगठन और कार्यकर्ताओं के बीच कायम था, सरकार में आने पर वह टूट गया लगता है। समन्वय के अभाव के कारण अराजकता और अनुशासनहीनता पनप रही है, जिसकी भाजपा नेतृत्व को तुरंत चिंता और चिकित्सा करनी चाहिए। अन्यथा सामान्य कार्यकर्ता की उपेक्षा जिस तरह टिकट बंटवारे की वेला में असंतोष और आक्रोश

बनकर फूट पड़ी है, उससे भाजपा का अपने आप को कांग्रेस की तुलना में भिन्न चरित्र वाली पार्टी कहने का दावा खत्म होने का खतरा है। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 30/10/2018)

फिर फोकस मंदिर पर

विजयादशमी के दिन राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ की स्थापना की वर्षगांठ पर शस्त्र पूजन के अवसर पर संघ प्रमुख मोहन भागवत ने अपने सम्बोधन में इस बात का स्पष्ट संकेत दे दिया है कि उनका संगठन 2019 के चुनाव के मुख्य मुद्दे के रूप में विकास की तुलना में राम मंदिर निर्माण को अधिक महत्व देगा।

इसमें संदेह नहीं कि 93 वर्ष पूर्व स्थापित संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वर्तमान में देश ही नहीं दुनिया का एक बड़ा संगठन है और अपनी उपस्थिति से भारत के आम चुनाव पर सुनिश्चित प्रभाव डालने में समर्थ है। इसलिए उनके इस कथन को अति महत्वपूर्ण माना जा रहा है कि राम मंदिर निर्माण संबंधी मामला राजनीति के कारण लंबा खिंच गया। अब तक इस मामले को न्यायालय में सुलटाए जाने का समर्थन करने की नीति को उलटते हुए अब वे चाहते हैं कि सरकार कानून या अध्यादेश लाकर राम मंदिर निर्माण के मार्ग की बाधाओं को एक झटके में दूर कर दे। दरअसल संघ पिछले आम चुनाव के अवसर पर इस आश्वासन के बल पर ही संत समुदाय को एकजुट कर पाया था कि भारतीय जनता पार्टी की सरकार आई तो अयोध्या में राम मंदिर बन जाएगा। लेकिन पाँच वर्ष बस अदालती दाँवपेंच में ही निकल गए और अब लोग पूछ रहे हैं कि सरकार बनी तो फिर मंदिर क्यों नहीं बना। मोहन भागवत ने कहा कि सरकार बनने से हर काम नहीं हो जाता। अर्थात सरकार बनना काफी नहीं, कानून बनना ज़रूरी है। आलोचक इसे उनकी अधीरता के रूप में भी देख रहे हैं और अनुसूचित जाति-जनजाति से लेकर तीन तलाक तक पर सरकार की अतिशय सिक्रयता की प्रतिक्रिया में उभरे सवर्णों के असंतोष के शमन की रणनीति के रूप में भी। संघ और भाजपा दोनों को यह कहीं न कहीं यह दर साता रहा है कि दिलतों और अल्पसंख्यकों को साधने के चक्कर में वे अपना परंपरागत जनाधार न खो बैठें। इसलिए विकास और प्रगति की तमाम आंकड़ेबाजी के बावजूद उन्हें राम जनमभूमि और हिंदुत्व पर फोकस करना पड़ रहा है।

राहुल गांधी का पंडित, भक्त और सौम्य हिंदू अवतार भी भाजपा और संघ को राम की शरण लेने को विवश कर रहा है। इसीलिए मोहन भागवत ने अपने संबोधन में एक बार फिर हिंदुत्व की व्याख्या की। उन्होंने याद दिलाया कि हिंदुत्व हमारी राष्ट्रीय पहचान है और यह किसी देवी देवता, किसी पूजा परपंरा और खान पान से संबंधित नहीं है। उनका यह भी कहना है कि देश में अगर संविधान के आधार पर भावनात्मक एकता लानी है तो हिंदुत्व को युगानुकूल रूप में खड़ा करना होगा ताकि लोग इसका व्यवहार करें।

इसी सिलसिले में मोहन भागवत एक बार फिर संतों की शक्ति का लाभ उठाने के लिए यह कहते दिखाई देते हैं कि राम मंदिर बनाने के संबंध में संत महात्मा जो क़दम उठाएंगे, संघ उसके साथ चलेगा. चाहे जैसे हो राम मंदिर बनाग ही चाहिए. सरकार क़ानून लाकर मंदिर बनाए. इसमें किसी का कोई हस्तक्षेप नहीं हो। लगता है कि सुप्रीम कोर्ट द्वारा राम जन्मभूमि स्थल के मामले को टाइटल-सूट की तरह सुनने के फैसले से भी संघ असहज है। इसीलिए भागवत पुनः आस्था का भावनात्मक प्रश्न उठा रहे हैं। उन्होंने कहा, "राम हमारे गौरव पुरुष हैं। यदि ये हमारे गौरव पुरुष हैं तो उनका स्मारक होना चाहिए। अब पता चल गया कि वहां मंदिर है, नीचे है, सब सिद्ध हो चुका है। फिर भी न्यायालय में प्रकरण है और लंबा हो रहा है। अब कितना लंबा चलेगा। हिंदू समाज तो कितने वर्षों से राह देख रहा है।" संकेत स्पष्ट है कि अब और इंतज़ार नहीं! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 25/10/2018)

बे-चेहरा विपक्ष बनाम भाजपा का चेहरा

आखिर कांग्रेस ने लगभग पूरी तरह साफ कर ही दिया कि आगामी लोकसभा चुनाव में राहुल गांधी को प्रधानमंत्री पद के दावेदार के रूप में नहीं उतारा जाएगा। जब से राहुल गांधी ने यह कहा था कि पार्टी चाहे तो वे प्रधानमंत्री पद के लिए तैयार हैं, तभी से अन्य विपक्षी पार्टियाँ असहज दिखने लगी थीं क्योंकि उन्हें भाजपा विरोधी महागठबंधन के चेहरे के रूप में उनकी अपनी पार्टी के बाहर चाहने वाला शायद ही कोई हो। आए दिन अलग-अलग नामों का उछलना इस बात का प्रतीक है कि मायावती, ममता बनर्जी, अखिलेश यादव, शरद पवार जैसे दिग्गजों के रहते राहुल गांधी महागठबंधन के सर्वमान्य नेता के रूप में कतई स्वीकार्य नहीं हैं। इसलिए कांग्रेस के विरष्ठ नेता पी. चिदंबरम के इस वक्तव्य को विपक्षी एकता की राह हमवार करने की सोची समझी कोशिश के रूप में देखा जाना चाहिए कि 2019 लोकसभा चुनाव में कांग्रेस पार्टी राहुल गांधी को प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार के तौर पर घोषित नहीं करेगी। कोई यह न समझ ले कि किसी दूसरे को पार्टी इस रूप में उतारेगी, इसलिए वे यह भी कहना नहीं भूले कि राहुल ही नहीं कांग्रेस अन्य किसी भी व्यक्ति की दावेदारी की घोषणा नहीं करेगी।

कांग्रेस भली प्रकार यह समझ चुकी है कि अपने बूते वह भारतीय जनता पार्टी के सर्वविदित चेहरे अर्थात नरेंद्र मोदी का सामना नहीं कर सकती, अतः महागठबंधन ज़रूरी है। पर उसकी राह में राहुल गांधी का नाम आड़े आ रहा था। अब उम्मीद की जा सकती है कि विपक्ष एक साथ हो जाएगा क्योंकि समूचे विपक्ष का इकलौता शत्रु है- भारतीय जनता पार्टी। राहुल गांधी के पीछे हटने में यह संदेश भी छिपा है कि अन्य दल भी चुनाव-पूर्व ऐसी कोई दावेदारी पेश न करें। कांग्रेस बीजेपी को बाहर देखना चाहती है इसलिए महागठबंधन उसकी मजबूरी है – अन्य दलों की भी। यही वजह है कि इस बात पर सारा विपक्ष राजी हो सकता है कि बाद में मिलजुल कर प्रधानमंत्री का नाम तय किया जाए।

यह भी विचारणीय है कि इस समय भारतीय जनता पार्टी एक व्यक्तिपूजक पार्टी लग रही है और वह व्यक्तित्व बाकी सब नेताओं से ज्यादा लोकप्रिय है। ऐसे में कांग्रेस और विपक्षी पार्टियाँ मोदी बनाम राहुल या मोदी बनाम कोई और जैसे विकल्प पर भरोसा नहीं करना चाहतीं क्योंकि ऐसी प्रतियोगिता में राहुल या मायावती या ममता बनर्जी या कोई और जीत नहीं सकते। यह भी सबको पता है कि ऐसे किसी एक नाम के पीछे सारी पार्टियां एकजुट भी नहीं होंगी। ऐसे में सबसे स्रक्षित रास्ता यह है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के समर्थन के खिलाफ सबको एकत्र किया जाए।

राजनैतिक पार्टियों की शुरूआत किसी सिद्धांत पर होती है - चाहे वह कांग्रेस हो या भारतीय जनता पार्टी; लेकिन समय के साथ-साथ वे या तो व्यक्तिपूजक बन जाती हैं या परिवारवादी। भारतीय जनता पार्टी ने बड़े लंबे अरसे तक इस चीज से अपने आप को बचा कर रखा। यहाँ तक कि अटल बिहारी वाजपेयी और लालकृष्ण आडवाणी भी व्यक्तिपूजा के पात्र नहीं बन सके। पर चुनाव के दबाव में नरेंद्र मोदी को ऐसा व्यक्तित्व बन जाने दिया गया जिसे पूज्य भाव से देखा जाए। अर्थात अब भारतीय जनता पार्टी दूसरी पार्टियों से अलग चिरत्र वाली पार्टी नहीं रह गई है। इस बात का फायदा कांग्रेस उठाना चाहती है। इसके लिए आवश्यक है कि चुनाव प्रचार में फोकस नरेंद्र मोदी पर नहीं, संघ और भाजपा के नाभि-नाल संबंध पर रखा जाए। अगर विपक्ष का एक चेहरा नहीं होगा तो इस फोकस में

सुभीता होगा; वरना व्यक्तिकेंद्रित मुक़ाबला होने पर तो मोदी के सामने अन्य नेता दूसरे पायदान तक भी नहीं पहुँच पाएंगे। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 24/10/2018)

कश्मीर को नया चेहरा देने की युवा पहल

जम्मू और कश्मीर के निकाय चुनावों से भले ही वहाँ के कई राजनीतिक दल और दिग्गज अपने-अपने कारणों से दूर हों और जनता को बरगला रहे हों, वहीं ऐसे भी कुछ लोग हैं जो लोकतंत्र और संविधान में यकीन रखते हैं और दढ़ता पूर्वक सकारात्मक राजनीति के साथ खड़े हैं। कुपवाड़ा के मीर जुनैद ऐसे ही एक संभावनाशील युवक के रूप में उभरे हैं। वे कश्मीर को ऐसा नया चेहरा देना चाहते हैं जिसमें युवाओं के हाथ में पत्थर और हथियार न हों बिल्क किताब और लैपटाप हों। खबर है कि 27 वर्षीय मीर जुनैद आम जनता के बीच जाकर लोकतंत्र का प्रचार करते हैं और युवकों को सिक्रय राजनीति में आने के लिए प्रेरित करते हैं। उनकी प्रेरणा से 30 महिलाओं सिहत ऐसे 235 उम्मीदवार निकाय चुनाव में खड़े हुए जिनकी उम्र 25 से 30 वर्ष के बीच है। इसमें कोई दो राय नहीं कि यह एक स्वागत योग्य पहल है। यदि इस मुहिम के सहारे कश्मीर की युवा शक्ति को लोकतांत्रिक प्रक्रिया में शामिल किया जा सके तो इससे गाँव और कस्बे के स्तर पर नई चेतना जाग सकती है।

मीर जुनैद का संकल्प है कि वे कश्मीरी युवाओं को हिंसा और आतंक के रास्ते पर जाने से रोकने के लिए काम करते रहेंगे। उनका मानना है कि राजनीतिक दल युवाओं को बेवकूफ बना रहे हैं और जिन लोगों ने धारा-370 और 35-ए की दुहाई देकर निकाय चुनाव और पंचायत चुनाव का बहिष्कार किया है, वे कश्मीरियों को स्थानीय स्तर पर लोकतंत्र से वंचित रखना चाहते हैं।

वैसे मीर जुनैद निकाय चुनाव के मौके पर कहीं से अचानक प्रकट नहीं हुए हैं। वे अपने विद्यार्थी जीवन से ही लोकतांत्रिक मूल्यों और व्यवस्था के लिए संघर्ष करते रहे हैं। कानून के छात्र के रूप में उन्होंने कश्मीर विश्वविद्यालय में छात्र संघ के चुनावों के लिए आवाज़ उठाई थी और विधिवत चुने गए पहले अध्यक्ष का रुतबा हासिल किया था। यह जानकारी भी उत्साहवर्धक है कि बुरहान वानी की मौत के बाद उन्होंने युवाओं के बीच 45 कार्यक्रम किए और करीब 25 हजार युवाओं तक पहुंचे। वे युवाओं को भारतीय प्रशासनिक सेवा परीक्षा के लिए मुफ्त कोचिंग भी देते हैं। ठीक भी है, क्योंकि शिक्षा और रोजगार से ही कश्मीर की सूरत बदल सकती है। अपनी इस पृष्ठभूमि के कारण ही वे जम्मू और कश्मीर के युवकों को स्थानीय निकायों के चुनाव में शामिल होने के लिए समझाने में कामयाब हो सके।

लेकिन ऐसा नहीं है कि मीर जुनैद के लिए लोकतंत्र की यह राह फूलों भरी हो। जिस तरह की ज़हरीली हवाएँ घाटी के सियासती माहौल को दूषित किए हुए हैं, उनके बीच लोकतंत्र के पक्ष में खड़े होना खतरों को बुलावा देना भी साबित हो सकता है। इसलिए अगर उन्हें, उनके परिवार को और उम्मीदवारों को भी आतंकवादियों की ओर से लगातार धमिकयां दी गई तो इसमें कोई अचरज वाली बात नहीं। इसके विपरीत यह समाचार अवश्य सुखद माना जाना चाहिए कि धमिकयों के बावजूद उनके एक भी उम्मीदवार ने अपना नाम वापस नहीं लिया तथा आगे पंचायत चुनाव में भी 700 से ऊपर उम्मीदवार खड़े करने का संकल्प उन्होंने व्यक्त किया है।

उम्मीद की जानी चाहिए कि इस मुहिम के जरिए जम्मू-कश्मीर के गांवों-कस्बों में जमीनी स्तर पर लोकतंत्र बहाल हो सकेगा और किशोरों-युवकों की आतंकवादियों में भर्ती पर रोक लगेगी। कश्मीर का नया चेहरा गढ़ने के लिए ज़रूरी है कि आतंक और आतंकी को महिमा मंडित करने की प्रथा खत्म हो क्योंकि इसी के कारण अनेक युवा अपने हाथों में किताबों के बजाय हथियार उठाते नहीं हिचकते। इसके लिए बुद्धिजीवियों को भी आगे आना चाहिए और पाकिस्तान द्वारा कश्मीरी युवा वर्ग के ब्रेन वॉशिंग के लिए चलाए जा रहे दुष्प्रचार को निष्प्रभावी करने के लिए मजबूत अभियान छेड़ना चाहिए। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 18/10/2018)

बह्त कठिन है डगर महागठबंधन की

विधानसभाओं के चुनाव का बिगुल बजने के साथ ही भाजपा के लिए शायद इसे शुभ शकुन कहा जा सके कि अब राजस्थान, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में मायावती और कांग्रेस के किसी भी तरह के समझौते की आस नहीं रही। राष्ट्रीय विपक्ष के संभावित महागठबंधन के लिए तो यह घटना पक्के तौर पर अपशकुन है ही। छत्तीसगढ़ में अजीत जोगी से हाथ मिलाकर इस अपशकुन की शुरूआत मायावती पहले से कर ही चुकी थीं।

राजस्थान और मध्यप्रदेश के कई उप-चुनावों में मिली सफलता से कांग्रेस ने शायद आगामी चुनावों में भी अपनी जीत तय मान ली है क्योंकि उसे मध्य प्रदेश में मोदी-विरोधी लहर दिखाई दे रही है। लेकिन कांग्रेस को शायद अपनी भीतरी खींचतान नहीं दिखाई देती जबिक उसके दो विरष्ठ नेताओं कमलनाथ और पूर्व मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह के बीच तलवारें खिंची हुई हैं। कमलनाथ ने ज्योतिरादित्य सिंधिया के साथ मिलकर मायावती से बातचीत चलाई पर दिग्विजय सिंह ने उनके एकता प्रयासों में पलीता लगा दिया। इस स्थिति का भी लाभ भाजपा को मिलना ही है। तुनकमिजाज बसपा सुप्रीमो मायावती के साथ अपने व्यवहार में कांग्रेस को और अधिक सावधान रहना चाहिए था। निस्संदेह उसे दिग्विजय सिंह की उपेक्षा का भी मूल्य चुकाना पड़ेगा।

महागठबंधन की राह में वैसे भी रोड़े ही रोड़े हैं - शरद पवार, ममता बनर्जी, अखिलेश यादव और चंद्रबाबू नायडू की राष्ट्रीय रंगमंच पर चमकने की महत्वाकांक्षा के रूप में। ऐसे में राहुल गांधी को विपक्ष का चेहरा न बनने देने में प्रधानमंत्री मोदी की "नामदार" बनाम "कामदार" वाली व्यंग्यपूर्ण चुटकी की भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता; भले ही मंदिर-मंदिर द्वारे-द्वारे जाकर राहुल गांधी 'ब्राहमण-छवि' बनाने में जी-जान से जुटे हों।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने लायक है कि मायावती ने जिस प्रकार राहुल गांधी और सोनिया गांधी की प्रशंसा की है उसके आधार पर फिलहाल इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि आम चुनावों में राष्ट्रीय विपक्ष कम से कम उत्तर प्रदेश में गठबंधन कायम रख सकेगा। इन दिनों भले ही समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी दोनों ही कांग्रेस से बिदकी हुई लग रही हों, कांग्रेस को यह तो पता ही है कि उत्तर प्रदेश में भाजपा के बाद सपा-बसपा ही जनाधार वाले दल हैं। अजित सिंह की पार्टी तो केवल कुछ जिलों तक सिमट चुकी है। इसलिए भाजपा को टक्कर देने के लिए अखिलेश यादव और मायावती को साधना ज़रूरी होगा। अगर यह तिगड़ी जुड़ जाए तो अमित शाह, नरेंद्र मोदी और योगी आदित्यनाथ के लिए उत्तर प्रदेश को फतह करना आसान नहीं रह जाएगा।

मध्य प्रदेश, राजस्थान और छतीसगढ़ में विपक्ष के बिखराव का असर यह होगा कि सपा और बसपा दोनों ही कांग्रेस के वोट कार्टेगी और नतीजतन भाजपा को लाभ पहुंचाएंगी। ऐसे में अगर सत्ता में रहने के नकारात्मक असर को बेअसर करके अगर इन विधानसभा चुनावों में भाजपा सत्ता में वापस आ जाती है तो आम चुनाव में उसका मनोबल बहुत ऊँचा हो जाएगा और बिखरा हुआ तथा बे=चेहरा विपक्ष उसके सामने न तिक पाएगा।

अगर कांग्रेस उत्तरप्रदेश में भाजपा को कांटे की टक्कर देना चाहती है तो भजन-पूजन और तीर्थयात्रा के टोटके छोड़ कर उसे अपने पुराने वोटों को दुबारा खींचने की कोशिश करनी होगी। अनुसूचित जातियों से लेकर पिछड़ों और मुसलमानों तक के वोट पहले कांग्रेस को मिलते थे। अब ये मायावती और अखिलेश यादव के खाते में जाते हैं। इन वोटों को अपनी ओर मोड पाना अब चूंकि आसान नहीं है इसलिए कांग्रेस को इन दोनों नेताओं का साथ हर हाल में चाहिए। अगर यह 'जुगाइ' नहीं हो पाता तो भाजपा को रोकना विपक्ष का दिवास्वप्न ही सिद्ध होगा।

अंततः, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि भारत की जनता चौंकाने वाले परिणाम देने के लिए जानी जाती है; इसलिए अभी यह कहना संभव नहीं कि ऊँट किस करवट बैठेगा! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 12/10/2018)

इलाका-बदर हिंदीभाषियों की पीडा!

गुजरात से हिंदी भाषियों के पलायन के समाचार वास्तव में चिंताजनक हैं। कहा जा रहा है कि वहां लंबे समय से रह रहे उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश के इन लोगों को भीड़ द्वारा मारे या पीटे जाने का डर सता रहा है। एक तरफ पुलिस इस तरह की घटनाओं को अंजाम देने वालों को गिरफ्तार करने में लगी है तो दूसरी ओर आगामी चुनाव पर नज़रें गड़ाए राजनीतिबाज नेतागण अपना उल्लू सीधा करने की फिराक में हैं। आरोप लग रहे हैं। सफाइयाँ दी जा रही हैं। लेकिन असुरक्षाभाव और नफरत का आलम यह है कि हिंदी भाषी प्रवासियों को रात में मकान खाली करने पड़रहे हैं।

... काश, इस तरह की तमाम खबरें झूठ हों! लेकिन इस सदिच्छा के बावजूद इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि कुछ तत्व ऐसे अवश्य हैं जो 14 महीने की अबोध बालिका से दुष्कर्म की घृणित वारदात का सहारा लेकर समाज में घृणा और हिंसा फैला रहे हैं। दुष्कर्म के आरोपी की गिरफ्तारी के बावजूद जिस प्रकार समूह विशेष के प्रति घृणा फैलाने की घटनाएं सामने आई हैं उससे इस कृत्य के लिए सोशल मीडिया के दुरुपयोग के कारण एक बार फिर कई सार्वजनिक सूचना मंच सवालों के घेरे में आ गए हैं। चर्चा है कि गैर गुजरातियों, खासकर बिहार और उत्तर प्रदेश के लोगों, के विरुद्ध घणा से भरे संदेश सोशल मीडिया पर फैलाए गए जिसके बाद इन लोगों पर हमले शुरू हो गए। लेकिन सोशल मीडिया को खलनायक बनाकर उसका इस तरह दुरुपयोग करने वाले हर बार बच क्यों जाते हैं?

बात केवल इन कुछ अप्रिय घटनाओं की नहीं है। असल बात तो उस मानसिकता की है जो इस राष्ट्र की लोकतांत्रिक व्यवस्था के तारों को छिन्न भिन्न करना चाहती है। भीड़ द्वारा अलग-अलग प्रांतों में अलग-अलग कारणों से किसी भी अप्रिय घटना का बहाना लेकर किसी न किसी समूह के खिलाफ हिंसा की ऐसी घटनाएं इस तथ्य की सूचक है कि हर कहीं कुछ लोग केवल घृणा और हिंसा का ही कारोबार करने में लिप्त हैं। ये लोग संविधान-सम्मत लोकतंत्र में विश्वास नहीं रखते तथा अपने समूह के निहित स्वार्थों की सिद्धि के लिए साधारण लोगों को सामूहिक घृणा का शिकार बना कर समाज के भीतरी ताने-बाने को नष्ट करने पर आमादा हैं। इनके चेहरों की पहचान जब तक नहीं होगी और उन्हें जब तक बेनकाब नहीं किया जाएगा, तब तक शांति के शेष सारे प्रयास व्यर्थ होते रहेंगे।

कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि तमाम महानताओं का ढिंढोरा पीटते फिरने वाले हमारे उदार-चिरत समाज का असली चेहरा यही है – घृणा और हिंसा से तपता हुआ कुरूप चेहरा! हम हर बार बस यही तो करते हैं कि गरीब और बेसहारा लोगों को राक्षस बनाकर सूली पर चढ़ा देते हैं। निचले तबके के लोगों को अपराधी और अशिष्ट मानने की सामंती और साम्राज्यवादी (बिल्क, विलायती) मानसिकता आखिर कब जाएगी? इसीलिए हमारी चिंता का विषय यह भी है कि भारत का वर्तमान समाज शायद ऐसे उबाल बिंदु पर पहुंच गया है जहां तिनक सी आंच मिलते ही उसका गुस्सा उफनने लगता है। लेकिन यह गुस्सा इतना असहाय, कायरता भरा और अविवेक पूर्ण होता है कि प्रायः केवल साधनहीन और गरीब लोगों पर ही फूटता है! ताजा घटनाओं में भी यही देखने में आया है कि प्रायः मजदूर और कमेरे लोग ही इस अधीर समाज के निशाने पर रहते हैं। उनके खिलाफ इलाका-बदर होने के फरमान जारी करने वाले गुस्साए लोग इस बात की तिनक भी परवाह नहीं करते कि, अपना घर-बार छोड़कर आए हुए ये गरीब आखिर जाएंगे कहां और खाएंगे क्या?

इस तरह की घटनाएं भारतीय समाज की पारस्परिकता की संस्कृति की जड़ पर प्रहार करने के समान हैं। समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों को इस तरह उन्माद ग्रस्त होने वाले समाज का कुछ तो इलाज खोजना चाहिए! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 09/10/2018)

अन्नदाता से दिल्ली दूर क्यों ?

आखिर आंदोलनकारी किसानों को दिल्ली मेन प्रवेश कर किसान घाट तक जाने की अनुमित मिल गई और फिलहाल आंदोलन थम गया है। लेकिन, यह विडंबना नहीं तो और क्या है कि अहिंसा दिवस यानी बापू-शास्त्री जयंती के अवसर पर देश की राजधानी की सीमा पर किसान और जवान को आमने-सामने आना पड़े, परस्पर भिड़ना पड़े!

भारतीय किसान यूनियन के झंडे तले हरिद्वार से किसानघाट के लिए प्रस्तावित किसान क्रांति यात्रा की तरफ सरकार ने कई दिन तक कोई ध्यान नहीं दिया और जब भारी तादाद में आंदोलनकारी किसान उत्तर प्रदेश और दिल्ली की सीमा पर आ पहुँचे, तो तरह-तरह के बहाने बनाकर दिल्ली में उनके प्रवेश को अवांछित और निषिद्ध घोषित कर दिया गया। देश भर से आए हुए ये किसान 'किसान घाट' तक जाना चाहते थे और बाद में 'अपने' (!) प्रधानमंत्री के समक्ष अपना दुखड़ा रखना चाहते थे क्योंकि प्रधानमंत्री उन्हें बार-बार 'अन्नदाता' कहकर संबोधित करते और आश्वासन देते रहे हैं कि हमारी कार्यसूची में अन्नदाता का सर्वोपिर स्थान है। इतना ही नहीं, यथाशीघ्र किसानों की आय दोगुना करने की लोकलुभावन वाणी भी लगभग रोज ही आकाश में तैरती रहती है - जमीन पर उतरती नहीं! इसीलिए यह जरूरी हो गया था कि सोई हुई दिल्ली के कानों तक किसान एक बार फिर अपनी आवाज पहुंचाएँ। ऐसा इस वर्ष में यह तीसरा प्रयास था इससे पहले भी पिछले तीन-चार वर्षों में कम से कम 6 बार किसान आंदोलन दिल्ली दरबार को खटखटाने की कोशिशें कर चुका है। हर बार पहले देर तक उपेक्षा और उसके बाद सुंदर-सुंदर आश्वासन मिलते रहे

हैं; लेकिन कोई ठोस कार्यक्रम सामने नहीं आया। कर्ज माफी के नाम पर तो कहीं-कहीं हास्यास्पद राशि वाले चेक दिए जाने के उदाहरण भी सामने आ चुके हैं, जिनसे पता चलता है कि व्यवस्था देश के अन्नदाता के प्रति कितनी संवेदनहीन रही है।

किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था में यदि चुनी हुई सरकार अपनी जनता से मिलने से बचने लगे, यहां तक कि गांवों और किसानों का देश कहे जाने वाले भारत में उन्हीं शांतिप्रिय ग्रामीणों और किसानों का राजधानी में प्रवेश वर्जित कर दिया जाए जो सही अर्थों में देश को रोटी देते हैं और जिनके बेटे देश की रक्षा के लिए जान देते हैं, तो यह किसी भी प्रकार शोभनीय स्थित नहीं है। समझ में नहीं आता निहत्थी जनता से सरकार कितनी डर क्यों जाती है कि उसे रोकने के लिए भारी पुलिस बल का प्रयोग करना पड़ता है, लाठियाँ चलानी पड़ती हैं, आंसू गैस छोड़नी पड़ती है और पानी की बौछारों से हमला करना पड़ता है? यह स्थिति आने से पहले तक सरकार कहाँ सोई रहती है? सारे देश को पता था पर शायद सरकार को ही नहीं पता था इसीलिए इस तरह के बहाने गढ़े गए कि दिल्ली में प्रवेश के लिए अनुमित तो ली ही नहीं गई। सरकार के इसी प्रकार के उपेक्षापूर्ण रवैये के कारण पहले भी अन्ना हजारे से लेकर अखिल भारतीय किसान सभा, किसान मुक्ति संसद और तिमलनाडु के किसानों तक को बार-बार दिल्ली दरवाजे पर दस्तक देने के लिए मजबूर होना पड़ता है।

सवाल यह भी है कि जब हालात बेकाबू होने लगे, सरकार को वार्ता करने का ख्याल तभी क्यों आया? ऐसी आनन-फानन वार्ता से स्थायी समाधान कभी नहीं मिलते; इस बार भी नहीं! किसानों ने आधी-अधूरी माँगें मानने की नीति पर विश्वास न होने के कारण सुझाए गए समाधान को स्वीकार करने से पहले इनकार किया तो कोई अचरज नहीं। किसान इतनी बार छला जा चुका है कि अब तात्कालिक समाधानों से बहलता नजर नहीं आता। फिलहाल किसान अपने घरों को लौट गए हैं लेकिन उन्हें लगता है कि वे कहने भर को सरकार की प्राथमिकता है; कर्म के स्तर पर नहीं!

शायद ऐसे ही किसी समय राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'दिल्ली' को अश्व-मेध की तर्ज पर कृषक-मेध करने वाली रानी कहा था-

"वैभव की दीवानी दिल्ली । कृषक-मेध की रानी दिल्ली ॥ अनाचार-अपमान-व्यंग्य की चुभती हुई कहानी दिल्ली॥" 000

(डेली हिंदी मिलाप, 04/10/2018)

दागियों को रोकने के वास्ते...

सुप्रीम कोर्ट ने राजनीति को अपराधीकरण से मुक्त करने के लिए नया कानून बनाने का सुझाव दिया है। सर्वोच्च न्यायालय को लगता है कि आपराधिक छवि वाले नेताओं को चुनाव लड़ने से रोकना उसके अधिकार क्षेत्र में नहीं आता; तो प्रश्न उठता है कि लोकतंत्र को साफ-सुथरा और बेदाग बनाना और बनाए रखना आखिर किसके अधिकार क्षेत्र में है! विधायिका, प्रशासन और न्यायपालिका तीनों ही वर्तमान में तो इस मामले में असहाय दिखाई देते हैं। इसके बावजूद, सर्वोच्च न्यायालय की मंशा है कि विधायिका अर्थात संसद ही इस दायित्व को अपने ऊपर ले और ऐसा कानून बनाए कि गंभीर आपराधिक मामलों का सामना कर रहे लोगों को राजनीति में प्रवेश करने से रोका जा सके। यह लगभग वैसा ही है जैसे कोई चोर से कहे कि मेरी गठरी का खयाल रखना!

इसमें संदेह नहीं कि देश की राजनीति का अपराध के साथ गठजोड़ लोकतंत्र के लिए घातक सिद्ध हुआ है। इसलिए सर्वोच्च न्यायालय का यह कहना एकदम जायज है कि लोकतंत्र में लोगों को अपराध के समक्ष लाचार बने रहने पर मजबूर नहीं किया जा सकता। लेकिन अगर राजनीति अथवा सत्ता में आपराधिक तत्व घुसते रहेंगे, तो ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि जनता और उसके हितों पर इन तत्वों के हित हावी हो जाएँ। ऐसी स्थिति में जनता के अधिकारों और हितों को बंधक बना लिया जाना असंभव नहीं कहा जा सकता। इसीलिए राजनीति के अपराधीकरण के कैंसर का तुरंत और प्रभावी इलाज अति आवश्यक है। इसके लिए जरूरी है कि उन तत्वों के इस क्षेत्र में प्रवेश पर पाबंदी लगाई जाए। लेकिन विरोधाभास यह है कि पहले से यहाँ विद्यमान दागी तत्व क्या आसानी से ऐसा होने देंगे!

जानकारों का मानना है कि वर्तमान में हर तीन में से एक नेता के दामन पर कोई न कोई दाग है; यानी उनके खिलाफ आपराधिक मामला दर्ज है। मार्च 2018 के आंकड़ों के अनुसार देश में 4896 सांसदों और विधायकों में से 1765 के खिलाफ कुल 3065 आपराधिक मामले दर्ज हैं। यह भी रोचक तथ्य है कि इनमें से अपराधी छिव के सबसे ज्यादा 248 नेता उत्तर प्रदेश में है तथा 178 तिमलनाडु में। बिहार 144 दागी नेताओं के साथ तीसरे स्थान पर है और 139 के साथ पश्चिम बंगाल चौथे पर। किस्सा कोताह यह कि हमारे लोकतंत्र के खेवनहार राजनीतिक दलों में शायद कोई भी दल ऐसा न मिले, जिसमें एक भी दागी नेता न हो। ऐसे में माननीय सर्वोच्च न्यायालय का यह सुझाव कि संसद ही स्वयं राजनीति के अपराधीकरण को रोकने के लिए प्रभावी कानून लाए, कितना व्यावहारिक है - कुछ कहा नहीं जा सकता।

इसके अलावा दूसरे भी जो निर्देश माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने दिए हैं, उनके संबंध में भी यह विचारणीय है कि उनमें नया क्या है तथा वे किस प्रकार राजनीति के क्षेत्र को प्रदूषित होने से रोकने में सहायक हो सकते हैं। इसे बेशक एक अच्छा कदम माना जा सकता है कि सभी पार्टियां वेबसाइट पर दागी जनप्रतिनिधियों का रिकॉर्ड डालें तािक वोटर अपना फैसला खुद कर सकें। लेकिन पेंच तो यहीं फँसा है कि वोटर क्या सचमुच अपना फैसला वेबसाइटों का अध्ययन करके लेते हैं! यह भी निर्देश दिया गया है कि चुनाव लड़ने से पहले प्रत्येक उम्मीदवार अपना आपराधिक रिकॉर्ड चुनाव आयोग के सामने पेश करे। लेकिन जब चुनाव आयोग किसी की उम्मीदवारी इस आधार पर रद्द ही नहीं कर सकता, तो यह व्यवस्था मात्र एक औपचारिकता बनकर रह जाने को अभिशप्त प्रतीत होती है। हाँ, प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के माध्यम से उम्मीदवारों के आपराधिक रिकॉर्ड को प्रचारित करना शायद वोटरों को क्छ हद

तक प्रभावित कर सके। देखना होगा कि विभिन्न राजनीतिक पार्टियाँ और सरकारें इस दिशा में क्या कदम उठाती हैं। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 28/09/2018)

संघ की 'सर्व-लोक-युक्त' व्यापक दृष्टि!

दिल्ली स्थित विज्ञानभवन में आयोजित 'भविष्य का भारत और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण' विषय पर विचार-विमर्श के अवसर पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघचालक मोहन भागवत ने बहुत साफ-साफ शब्दों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की फिलॉसफी या विश्वदृष्टि का खुलासा किया है। उनकी कही कुछ सीधी और दो-टूक बातों का अर्थ बहुत गहरा और प्रभाव बहुत व्यापक हो सकता है। मोहन भागवत ने यह स्पष्ट कर दिया है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्राथमिक लक्ष्य 'हिंदुओं की एकजुटता' है तथा इसे 'केवल सामाजिक बदलाव के द्वारा' ही प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने बताया कि बलिदान, धैर्य, नियम और कृतज्ञता जैसे मूलभूत मूल्यों की पुनः स्थापना के सहारे ही हिंदू समाज को बदला जा सकता है। विचारणीय है कि, कट्टरता और दक्षिणपंथी होने के आरोपों के बीच संघ और हिंदू समाज क्या सचमुच सामाजिक बदलाव की के लिए तैयार है? समाज में ऐसी अनेक विकास-विरोधी ताकतें सिक्रय हैं जो उसे बदलने नहीं देना चाहतीं, यथास्थित को बनाए रखना चाहती हैं। संघ को ऐसी शिक्तयों और प्रवृत्तियों को निष्प्रभावी करने का मार्ग भी तलाशना होगा अन्यथा यह वक्तव्य एक आदर्श-वाक्य भर बनकर रह जाएगा।

सरसंघचालक ने यह भी ज़ोर देकर कहा कि संघ राजनीतिक संगठन नहीं है और किसी राजनीतिक दल पर उसका कोई दबाव नहीं है। यह ठीक है कि वर्तमान प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति का संबंध भाजपा से है लेकिन उन पर किसी भी प्रकार संघ के नियंत्रण की बात को उन्होंने सिरे से नकार दिया। पूरी विनम्रता के साथ यह भी कहा कि भाजपा में अनेक राजनीतिक कार्यकर्ता इतने परिपक्व हैं कि उनका अपना अन्भव उनके सामने छोटा हो सकता है। उन्होने याद दिलाया कि संघ और भाजपा दोनों का कार्यक्षेत्र अलग-अलग है। हाँ, यह अवश्य है कि अगर कभी राजनीतिक लोगों को किसी प्रकार की सलाह की आवश्यकता होती है तो संघ उन्हें परामर्श देता है क्योंकि मूलतः वे संघ के स्वयंसेवक हैं। संघ के सामाजिक और राष्ट्रीय दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए मोहन भागवत ने भारत के बह्लता से निर्मित चरित्र अर्थात विविधता को स्वीकार करने की बात काफी विस्तार से कही। उन्होंने 'कांग्रेस-मुक्त भारत' जैसे लोकलुभावन जुमले को दरिकनार करते हुए कहा कि हम किसी भी वर्ग से 'मुक्त' नहीं बल्कि सब वर्गों से 'युक्त' होने का समर्थन करते हैं। इसे उन्होने 'सर्व-लोक-युक्त' होना कहा। यह ऐसी व्यापक विश्वदृष्टि है जिसमें 'कोई पराया नहीं'। ध्यान देने पर साफ हो जाएगा कि यह भारत-राष्ट्र के संघीय चरित्र की राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा स्वीकृति का वक्तव्य है। इसे और आगे ले जाते हुए मोहन भागवत यह कहना भी नहीं भूले कि हम ऐसे समाज की कामना करते हैं जिसमें शोषण, स्वार्थ और भेदभाव न हो। यही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की 'भविष्य का भारत' की अवधारणा है। 'सर्व-लोक-युक्त' होने का अर्थ वस्तुतः उदार और सर्वसमावेशी होना है। इसे समझाते हुए मोहन भागवत ने संघ पर तानाशाह होने के आरोप का खंडन करते हुए कहा कि अपनी कार्यप्रणाली में संघ सबसे ज्यादा लोकतांत्रिक संगठन है। उन्होंने स्वयं अपने जीवन का उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया कि यहाँ प्रश्न पूछने की आजादी है और पूछे गए प्रश्न का उत्तर देने की जिम्मेदारी का भी निर्वाह किया जाता है। लोकतांत्रिक और सर्वसमावेशी संगठन के रूप में संघ की व्याख्या करते हुए उन्होंने 'महिला विंग' की भी चर्चा की। ये सारी बातें वास्तव में उन तमाम लोगों को लक्ष्य करके कही गई हैं जो संघ और उसकी संस्कृति से परिचित हुए बिना सदा उसकी आलोचना किया करते हैं। सर्व-लोक-युक्त होने का प्रमाण देते हुए ही संभवत: मोहन भागवत ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन में

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रशंसा की। यही नहीं, उन्होंने कांग्रेस के शासनकाल में हुए विकास के लिए भी उसे याद किया। इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि संघ और मोहन भागवत कांग्रेस के प्रशंसक बन गए हैं; बिल्क यह दर्शाने का प्रयास है कि हम तिनक भी कट्टरवादी नहीं है और विपक्षियों तथा विरोधियों की उपलिब्धियों को भी अपनी प्रशंसा प्रदान कर सकते हैं। यह भी बहुत महत्वपूर्ण बात मोहन भागवत ने कही है कि भारत में सत्ता के केंद्र का निर्धारण भारत के संविधान द्वारा होता है, इसिलए संवैधानिक सत्ता-केंद्र के अलावा किसी और दूसरे सत्ता-केंद्र की कल्पना करना अनुचित है। इसका एक अर्थ है कि संघ भाजपा के कामों में हस्तक्षेप के आरोप से मुक्त होना चाहता है। लेकिन दूसरा अधिक गहरा अर्थ यह है कि मोहन भागवत मोदी सरकार को संघ की ओर से पूरे समर्थन का आश्वासन दे रहे हैं क्योंकि प्रधानमंत्री ही एकमात्र संवैधानिक सत्ता-केंद्र हैं।

अंत में, भविष्य के भारत के बारे में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए कही गई ये तमाम बातें सूचक हैं कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ समाज के सभी वर्गों और सभी दलों में अपने लिए स्वीकार्यता की तलाश में है ताकि उस पर लगे आक्षेप निर्मूल हो सकें! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 20/09/2018)

आसान नहीं कांग्रेस-बसपा का गठजोड

पाँच राज्यों में विधानसभा चुनाव एकदम सिर पर हैं। सभी राजनीतिक दल आक्रामक तेवरों में हैं। पर वे यह भी जानते हैं कि हर प्रदेश की अपनी क्षेत्रीय विशेषताएँ और मजबूरियाँ हैं जिनके चलते जरूरी नहीं कि सब जगह एक जैसे समीकरण काम आ सकें। ऐसे वातावरण में मध्यप्रदेश का विधानसभा चुनाव इसलिए अलग प्रकृति का है कि वहाँ लंबे समय से भाजपा का शासन है तथा उसके प्रति सुगबुगाते असंतोष की आँच पर कांग्रेस अपनी रसोई पकाने के फेर में है। लेकिन कांग्रेस को यह भी अहसास है कि भाजपा को मध्यप्रदेश में चुनौती दे पाना उसके अकेले के बूते की बात नहीं। इसलिए उसे क्षेत्रीय दलों के साथ चुनावी समीकरण बनाना ही पड़ेगा। इस समीकरण का सर्वाधिक संभावित स्वरूप कांग्रेस और बहुजन पार्टी के गठजोड़ का है। लेकिन चुनाव की निकटता के बावजूद अभी तक दोनों ही दल अपनी-अपनी जगह अकड़कर अड़े हुए हैं जिससे प्रदेश में एक असमंजस की स्थिति बनी हुई है।

बसपा को यह अहसास है कि यदि भाजपा को टक्कर देनी है तो कम से कम मध्यप्रदेश में तो कांग्रेस को उसकी शरण में आना ही पड़ेगा। साथ ही बसपा को यह भी पता है कि उसकी अपनी हालत कई अन्य प्रदेशों में बहुत पतली है। इसलिए खुद उसे वहाँ कांग्रेस के साथ की जरूरत है। उदाहरण के लिए राजस्थान की चर्चा की जा सकती है। लेकिन वहाँ कांग्रेस किसी गठजोड़ की अपेक्षा अकेले चुनाव मैदान में उतरना चाहती है। वहाँ कांग्रेस के अत्यंत प्रभावी नेता सचिन पायलट और उनके समर्थक पहले से कह रहे हैं कि राजस्थान में कांग्रेस को किसी से भी गठजोड़ किए बिना अकेले ही चुनाव में उतरना चाहिए। इसी कारण बसपा यह दाँव खेल रही है कि अगर गठजोड़ बैठाना है तो यह अकेले मध्य प्रदेश के लिए नहीं, बल्कि मध्य प्रदेश राजस्थान और छतीसगढ़ तीनों प्रदेशों के लिए करना होगा। उसने साफ कर दिया है कि यदि ऐसा नहीं हो पाता तो वह इन तीनों प्रदेशों में अकेले अपने दम पर लड़ेगी। आने वाले कुछ दिन इस दृष्टि से जिज्ञासा भरे होंगे कि इस रस्साकशी में कांग्रेस और बसपा दोनों अपनी-अपनी ज़िद किस हद तक छोड़ पाते हैं और एक दूसरे को कितना अपनाते हैं। जानकारों का मानना है कि गठजोड़ तो अवश्यंभावी है लेकिन शर्ते अभी तय होनी बकाया हैं। फिलहाल तो 'हाथ' और 'हाथी' दोनों दबाव की रणनीति खेल रहे हैं!

दबाव को बढ़ाने के लिए ही बसपा सुप्रीमो मायावती ने काग्रेस को यह घुड़की भी दी है कि काग्रेस के साथ गठजोड़ तभी होगा जब हमें 'सम्मानजनक' सीटें मिलेंगी। चर्चा है कि मध्यप्रदेश में कांग्रेस बसपा को 15 सीटें देने की इच्छुक है जबिक बसपा का दावा 30 सीटों का है। लेकिन यह समझौता आसान नहीं होगा क्योंकि कांग्रेस मध्य प्रदेश में केवल बसपा ही नहीं बल्कि दूसरे क्षेत्रीय दलों से भी चुनावी तालमेल करना चाहेगी जिनमें गोंडवाना गणतंत्र पार्टी तथा अन्य आदिवासी संगठन शामिल हैं। इस स्थिति में बसपा को 30 सीटें दे पाना संभव नहीं होगा। देखना होगा कि ऐसे में मायावती क्या नया दाँव चलेंगी।

जानकारों का मानना है कि अगर मध्य प्रदेश में कांग्रेस और बहुजन समाज पार्टी के बीच यह चुनावी गठजोड़ नहीं बन पाएगा, तो तुलनात्मक रूप से यह कांग्रेस के लिए अधिक हानिकारक सिद्ध होगा। दूसरी ओर, स्वाभाविक है कि इसका सीधा फायदा भारतीय जनता पार्टी को ही मिलेगा। संदेश स्पष्ट है कि अगर मध्य प्रदेश में कांग्रेस और बसपा का गठजोड़ नहीं होता, तो वहाँ भाजपा को सता से हटाना न तो अकेले कांग्रेस के लिए आसान है और न ही बसपा के लिए!000

पेटोल के बढ़ते दाम और बेबस सरकार

डीजल-पेट्रोल की बढ़ती कीमतों के नाम पर बुलाया गया कांग्रेस तथा अन्य विपक्षी दलों का 'भारत बंद' मिली-जुली प्रतिक्रियाओं के बीच अपने अंजाम तक पहुँच गया। एक बार फिर से साफ हुआ कि कांग्रेस जिन प्रश्नों पर आगामी विधानसभा और लोकसभा चुनावों में भाजपा और उसकी सरकार को घेरने की कोशिश करेगी, उनमें डीजल-पेट्रोल की कीमतों का बेलगाम बढ़ते जाना मुख्य मुद्दा रहेगा। ऐसा इसलिए भी कि राफेल डील वाले मुद्दे को कुछ खास जनसमर्थन मिलता दिखाई नहीं दे रहा।

सरकार और उसके शुभचिंतक चाहे कितना ही कहें कि यह 'भारत बंद' कांग्रेस आदि की हताशा का प्रतीक था; अथवा इधर-उधर हुई अप्रिय घटनाओं के हवाले से तरह-तरह के आरोप लगाए; कम से कम इतना तो लोगों की समझ में आ रहा है कि कीमतों पर लगाम कस पाने के संबंध में सरकार ने हाथ उठा दिए हैं। सरकार का यह कहना साधारण नागरिक के गले नहीं उतर सकता कि- "पेट्रोल डीजल की कीमत का बढ़ना हमारे हाथ से बाहर है क्योंकि तेल उत्पादक देशों ने उत्पादन को सीमित कर रखा है। वेनेजुएला में राजनीतिक अस्थिरता है। ईरान अमेरिकी प्रतिबंधों का सामना कर रहा है और अमेरिका में शेल गैस का उत्पादन नहीं हो रहा है। दुनिया में तेल की माँग और आपूर्ति का अनुपात गड़बड़ है। इस वजह से तेल की कीमतें बढ़ी हुई हैं। इस स्थिति पर हमारा कोई कंट्रोल नहीं है।"

माना कि सरकार सच बोल रही है, लेकिन क्या इसे कूटनीतिक विफलता नहीं माना जाएगा कि सारी दुनिया में दौड़ते रहकर भी अंततः सरकार को अपनी जनता के सामने बेबसी का इजहार करना पड़ रहा है। अगर सरकार कह रही है कि हम कुछ कर सकने की स्थिति में नहीं हैं, तो साधारण नागरिक के विश्वास की तो कमर ही टूट गई न?

बेबसी और असमर्थता दर्शांकर सहानुभूति बटोरने के प्रयास के अलावा आँकड़ों की भूलभुलैया भी फैलाई जा रही है। यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 16 मई, 2009 से 16 मई 2014 की अविध में कांग्रेस राज के दौरान 5 साल में पेट्रोल की कीमतों 75.8 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई थी। इसकी तुलना में पिछले साढ़े साल में यह बढ़ोतरी 13 प्रतिशत मात्र रही, जो तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम है। इसलिए भाजपा सरकार को कोसना उचित नहीं है।

चुनावी राजनीति में अर्थसत्य परोसे जाने की परंपरा के अनुरूप ये तमाम आँकड़े भी आधे सच का ही बयान करते हैं। कांग्रेस को मौका मिल गया और उसने छिपाए गए आधे सच को भी उजागर कर दिया। कांग्रेस के ट्विटर हैंडल से जारी चार्ट में बताया गया है कि 2009-2014 की अविध में कच्चे तेल की कीमत 84 प्रतिशत बढ़ी थी जबिक 2014-2018 में कच्चे तेल के दाम 34 प्रतिशत कम हुए। इस हिसाब से पेट्रोल की कीमतें घटनी चाहिए थी। पर ऐसा न होकर वह अब भी निरंतर बढ़ रही है और सरकार खुद को बेबस बता रही है! अर्थ स्पष्ट है कि इस मुद्दे पर सरकार घिर चुकी है। इससे पार पाने के लिए उसे तुरंत किसी ठोस योजना के साथ सामने आना होगा तािक डीजल-पेट्रोल के दाम कुछ तो घट सकें। अन्यथा अगर इतिहास में कभी प्याज रुला सकती है तो फिर यह तो पेट्रोल है!

विपक्षी नेताओं ने अपने भाषणों में और भी तमाम प्रश्न उछाले हैं जो चुनावी मुद्दे बनेंगे। इस दृष्टि से राफेल सौदे से लेकर भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, आरक्षण, हिंदुत्व, सामाजिक संघर्ष, महिला सुरक्षा, किसानों की आय, क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाएँ और जातिभेद तक से जुड़े प्रश्नों पर कांग्रेस नेताओं ने जनता को संबोधित करने का प्रयास किया। लेकिन, फिलहाल पेट्रोल के मूल्यों के समक्ष सरकार की बेबसी देश की व्यापक चिंता का विषय है।000

(डेली हिंदी मिलाप, 12/09/2018)

पचास वर्ष तक भाजपा : आत्मविश्वास या अतिविश्वास

भारतीय जनता पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी की दो-दिवसीय बैठक दिल्ली में विधिवत संपन्न हो गई। जैसी कि उम्मीद थी, कार्यकारिणी का फोकस मुख्य रूप से 2019 के लोकसभा चुनाव और गौण रूप से ठीक सामने उपस्थित पाँच राज्यों के विधानसभा चुनाव पर रहा। बैठक स्थल की जिस तरह की साज-सज्जा की गई, उसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगामी चुनाव में अटल बिहारी वाजपेयी की निजी छवि का लाभ उठाने की पूरी योजना है। अटल बिहारी वाजपेयी की निजी छवि में उदारवाद और अडिगता दोनों एक साथ उपस्थित हैं। देखना होगा कि आने वाले समय में इन्हें किस प्रकार प्रोजेक्ट किया जाता है कि उन वर्गों के मतदाता को आकर्षित किया जा सके जो कहीं ना कहीं भाजपा से अप्रसन्न चल रहे हैं।

समापन भाषण में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने पार्टी कार्यकर्ताओं को प्रेरित करने तथा मतदाताओं को आकर्षित करने के लिए अत्यंत अर्थपूर्ण नारा दिया – "अजेय भारत, अटल भाजपा"। भारत को 'अजेय' कहने का अर्थ है कि राष्ट्रवाद की चेतना का आक्रामक रूप में इस्तेमाल किया जाने वाला है। अन्यथा पार्टी अध्यक्ष अमित शाह के संबोधन में तो 'अजेय भाजपा' को ही उभारा गया था। भाजपा को 'अटल' कहने का अर्थ सत्ता में भाजपा के स्थिर रहने के आत्मविश्वास के साथ ही भाजपा को परिभाषित करने के लिए अटल बिहारी वाजपेयी की छिव को भुनाना भी है। "पार्टी के अपने सिद्धांतों के प्रति समर्पण को ही 'अटल भाजपा' का नाम दिया गया है" अर्थात जिन लोगों या वर्गों को यह भ्रम हो

रहा है कि भाजपा अपनी मूल नीतियों से हट रही है, वे जान लें कि भाजपा की नीतियाँ अचल और अटल हैं - रणनीति अवश्य ही गतिशील और परिवर्तनीय है। अटलता और गतिशीलता का यह समन्वय भी अटल बिहारी वाजपेयी की छिव की ओर ही संकेत करता है और इस छिव का प्रयोग करते हुए प्रधानमंत्री ने आगामी चुनावी समर में विजय का विश्वास व्यक्त किया है। पार्टी अध्यक्ष अमित शाह ने इस विश्वास को पुख्ता बनाकर पेश किया कि आगामी चुनावों में भाजपा विजयी होगी और फिर अगले 50 वर्ष तक भाजपा का राज रहेगा। कोई इसे अहंकार का नाम न दे, इसलिए उन्होंने तुरंत साफ कर दिया कि ऐसा कहने का आधार वे तमाम काम हैं जो पिछले वर्षों में नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में पार्टी ने करके दिखाए हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्रधानमंत्री और पार्टी अध्यक्ष दोनों ही ने कार्यकर्ताओं में आत्मविश्वास बढ़ाने के लिए इस प्रकार की प्रेरक बातें कही हैं जो उनमें ऊर्जा का संचार करेंगी और सिक्रयता का आधार बनेंगी।

राष्ट्रीय कार्यकारिणी की बैठक में एक बार फिर भारतीय जनता पार्टी की एनआरसी के संबंध में प्रतिबद्धता दोहराई गई है और दृढ़तापूर्वक अवैध घुसपैठ को बंद करने की बात कही गई है; लेकिन एससी-एसटी एक्ट पर पार्टी का असमंजस भी साफ देखने में आया। एक ओर तो 'अंबेडकर' इंटरनेशनल सेंटर में यह बैठक आयोजित कर तथा आरंभ में ही डॉ. बीआर अंबेडकर की प्रतिमा को माल्यार्पण और नमन करके अनुसूचित जाति/ जनजाति के मतदाताओं को आश्वस्त किया गया तथा दूसरी ओर पार्टी ने यह साफ करने की कोशिश की कि उसकी नीति किसी भी प्रकार एकांगी नीति नहीं है; वह पूरे समाज को लेकर चलने वाली समावेशी नीति है जिसमें सबके साथ की बात है, सबकी बात है, देश को या समाज को खंडों में बाँटना उसे स्वीकार नहीं। यह बात काफी हद तक गोलमोल सी है। संभावना तो यह भी है कि एससी-एसटी एक्ट के मामले में सवर्णों के गुस्से को देखते हुए सरकार शायद उसे फिर से मूल रूप में लाने के लिए प्रयास करे क्योंकि अगर सवर्ण आधार ही खिसक गया तो पार्टी सांसत में पड़ सकती है।

बैठक से यह एकदम साफ हो गया है कि आगामी चुनाव में पार्टी का प्रचार काफी हद तक आक्रामक रहेगा। इसके लिए 48 साल बनाम 48 महीने का लेखा-जोखा सामने रखा जाएगा अर्थात भाजपा अपनी उपलब्धियाँ तो गिनाएगी ही, कांग्रेस राज की नाकामियों को भी जमकर कोसेगी। राफेल डील का साया पूरे चुनाव पर रहेगा, इसे देखते हुए बार-बार कार्यकर्ताओं से कहा जा रहा है कि वे घर-घर मतदाता तक पहुँचकर तर्कों के आधार पर इस डील से जुड़े कांग्रेस के झूठ का जमकर खुलासा करें वरना अगर मतदाता ने इस पर यकीन कर लिया तो फिर कुछ भी हो सकता है।

अंततः यही कि जब अमित शाह कहते हैं कि, "नरेंद्र मोदी के रूप में हमारे पास दुनिया का सबसे लोकप्रिय नेता है", तो यह स्पष्ट करते हैं कि उनका उपयोग आगामी चुनाव में पार्टी के चेहरे के रूप में किया जाना सुनिश्चित है और पार्टी आश्वस्त है कि नरेंद्र मोदी के जादू के सहारे वह अगले चुनाव को ही नहीं जीतेगी, 50 वर्ष के लिए सत्ता में स्थापित हो जाएगी। देखना होगा कि यह विश्वास भाजपा का आत्मविश्वास सिद्ध होता है या अतिविश्वास!000

(डेली हिंदी मिलाप, 11/09/2018)

मुख्यमंत्री चंद्रशेखर राव का तेलंगाना विधानसभा को भंग करने-कराने का निर्णय पूर्णतः पूर्वनियोजित और संभावित था। इसलिए सभी हलकों में इसे सहज भाव से ग्रहण किया गया है। कहीं कुछ अघटित घटा हो जो चौंकाने वाला हो; ऐसा कुछ नहीं। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि राव का यह कदम विश्लेषकों और आम जनता के लिए कुत्रूहल भरा नहीं है। पहले से सारे संकेत होते हुए भी चर्चाएँ तरह-तरह की उठ रही हैं।

एक ऐसे समय जबिक लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने के औचित्य-अनौचित्य पर गर्म बहसें सड़कों से लेकर कचहिरयों तक चल रही हों; तेलंगाना में समय-पूर्व चुनाव का रास्ता साफ करने का अर्थ है कि तेलंगाना राष्ट्र समिति (तेरास) नहीं चाहती कि दोनों चुनाव एक साथ हों। कम से कम वर्तमान राजनीतिक परिदृश्य को देखते हुए उसे यही हर तरह फायदेमंद लगता है कि प्रांत के चुनाव लोकसभा चुनाव से जितना पहले हो सकें, उतना श्रेयस्कर है।

चंद्रशेखर राव राजनीति के क्षेत्र के मँजे हुए खिलाडी हैं। उन्हें इस बात का पूरा अहसास है कि असेंबली चुनाव अलग से और पहले कराने से उन्हें स्थानीय मुद्दों को भुनाने का पूरा अवसर मिलेगा तथा कोई राष्ट्रीय मुद्दा उनके "लोक-लुभावन कार्यक्रमों" की चमक फीकी करने में समर्थ नहीं होगा। इसके अलावा इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान में राव की केंद्र की राजनीति में शीर्ष पर पहुँचने की महत्वाकांक्षा पूरे जोरों पर है। वे लोकसभा चुनाव संपन्न होने तक अपने पत्ते नहीं खोलेंगे। लेकिन यदि पिछले कुछ समय की उनकी गतिविधि का निकट से अवलोकन किया जाए तो पता चलेगा कि वे दोनों हाथों में लड्डू रखने की राजनीति खेलने जा रहे हैं।

एक ओर तो अविश्वास प्रस्ताव पर चर्चा के दौरान प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी से भरमुँह प्रशंसा पाकर वे बीजेपी और एनडीए के साथ जाने जैसी भंगिमा बनाए हुए हैं। लेकिन इसकी उन्हें कोई जल्दी भी नहीं है क्योंकि दूसरी ओर तमाम विपक्षी दिग्गजों से भी उनकी निकटता जगजाहिर है। यदि नेतृत्वहीन(?) महागठबंधन अथवा अन्य कोई बड़ा मोर्चा उन्हें प्रधानमंत्री का चेहरा बनाने को तैयार होगा तो वे प्रसन्नतापूर्वक उधर भी जा सकते हैं। अर्थात लोकसभा चुनाव की दृष्टि से वे या तो किंग बनना चाहेंगे या कम से कम किंगमेकर! सही समय पर सटीक निर्णय लिया जा सके इसके लिए विधानसभा के चुनाव पहले कराना उनकी खुली मंशा है। वे राष्ट्रीय राजनीति में पदार्पण अग्र पंक्ति में रहने के लिए करना चाहेंगे। इसके लिए जनता और राजनीतिक पार्टियों के मूड की परीक्षा के लिए समय-पूर्व विधानसभा चुनाव से अच्छा अवसर कुछ और हो ही नहीं सकता। अभी वे चाहेंगे कि विधानसभा चुनाव पूरी तरह लोकल मुद्दों और उनकी अपनी सरकार की उपलब्धियों पर केंद्रित हो; इसीलिए वे इधर अनेक लोकलुभावन योजनाएँ लेकर आए हैं। दोनों चुनाव साथ कराकर जनता के फोकस को बिगाइना उन्हें तनिक भी स्वीकार नहीं होगा। अपनी सरकार के पक्ष में बने सकारात्मक माहौल को वोट के रूप में भुनाने की चाह रखना कोई बुरी बात तो है नहीं! इस तरह राव असेंबली चुनाव को "राहुल बनाम मोदी" की खींचतान की काली छाया से भी बचा ले जाएँगे। यह रस्साकशी लोकसभा चुनाव के वक्त काम आएगी।

इसमें भी संदेह नहीं कि तेरास की समय से पहले चुनाव की तैयारी पहले से थी - मानसिक भी और व्यावहारिक भी। दूसरी तरफ विपक्षी दलों को चुनावी तैयारी के लिए अब तुलनात्मक रूप से कम समय मिल पाएगा। इसका लाभ भी तेरास को ही होगा। राज्यस्तरीय चुनाव में अपनी छवि का पूरा लाभ उठाकर राव यहाँ की बागडोर केटी रामाराव

को सौंपकर स्वयं दिल्ली का रुख करना चाहेंगे; ऐसा विश्लेषकों का मानना है। वैसे सच्चाई यह भी है कि कुछ समय पहले तक तेरास "एक राष्ट्र एक चुनाव" के समर्थन में थी। लेकिन इस समय तो विधानसभा चुनाव का समय से पूर्व होना ही उसे अपने हित में लग रहा है। नि:संदेह, आगे का घटनाचक्र रोचक होगा; रहस्यपूर्ण भी!000

(डेली हिंदी मिलाप, 08/09/2018)

फिर जगा नोटबंदी का भूत

भारतीय रिजर्व बैंक की वार्षिक सामान्य रिपोर्ट से पता चला है कि नोटबंदी के दौरान बंद हुई मुद्रा लगभग सारी की सारी (99% से अधिक) वापस प्राप्त हो चुकी है। इसी के साथ पुराने नोट बंद करने और बदले में नए नोट चलाने की नीति और प्रक्रिया एक बार फिर सवालों के घेरे में आ गई है। विपक्षी दल तो खैर इसे असफल मानते ही रहे हैं। स्वयं सरकार भी ताल ठोककर यह नहीं कह सकती कि उस समय जो लक्ष्य और उद्देश्य गिनवाए गए थे, उनकी सचमुच सिद्धि हो सकी है। किसी राष्ट्र के राजनैतिक-आर्थिक जीवन में जब इस प्रकार के बड़े प्रयोग किए जाते हैं तो विपरीत परिणामों के लिए भी तैयार रहना ही पड़ता है। उस वक्र्त सरकार ने आतंकवाद, काले धन, और ब्रष्टाचार पर लगाम लगाने के लिए कड़वी दवा के तौर पर नोटबंदी की डबल डोज देश को जबरन पिलाई थी। लेकिन आज तक ऐसे कोई आंकड़े सामने नहीं आ सके हैं कि इन तीनों पर लगाम कितनी कसी जा सकी। डिजिटल लेनदेन को प्रेरित करना और नकद मुद्रा के प्रचलन की आदत को बदलना भी बड़ा उद्देश्य बताया गया था।

दरअसल नोटबंदी का उद्देश्य था कि जिन लोगों ने काला धन कैश के रूप में छिपा रखा था उनकी कमर टूट जाए। 500 और 1000 के जो नोट सफ़ेद हैं बस वही बैंक में भर जाएँ और काले धन वाले नोट तिजोरियों में पड़े-पड़े बेकार हो जाएँ। आरबीआई के यह कहने से कि 99.3% नोट बैंकों में वापस आ गए हैं, यह बात साफ हो गई है कि या तो केवल 0.7% नोट ही काले थे या काफी सारे काले नोट अब धुल गए हैं। प्रधानमंत्री महोदय ने उस वक़्त 50 दिन माँगे थे, अब तो 1 साल 9 महीने बीत गए। यहाँ तक कि अविश्वास प्रस्ताव के जवाब के दौरान भी इससे जुड़े मुद्दों से पीठ फेर ली गई। लेकिन प्रेत तो जाग गया है। यह सवाल उछल-उछल कर अब रोज़ सामने आएगा कि- इस तमाम अराजकता जैसी स्थिति के उपस्थित होने के लिए आखिर जिम्मेदार कौन है? सरकार को चाहिए कि वह समझाए कि- क्यों जनता को इतना कुछ सहना पड़ा - काले धन पर हमले के नाम पर? कैसे एक नेता उन लोगों का मज़ाक बनाते पाए गए जिनके यहाँ शादी थी पर पैसे नहीं थे?

सरकार ने विमुद्रीकरण का घोषित मकसद समय के साथ बदला क्योंकि काफी पहले से यह साफ हो गया था कि पूर्वघोषित उद्देश्यों में से कोई भी दरअसल पूरा नहीं हो रहा। अरुण जेटली महोदय का कहना है कि नोटबंदी का मकसद 'नॉन-डिपॉज़िट' नहीं था, बल्कि टैक्स का बेस बढ़ाना मुख्य मुद्दा था। 'फार्मलाइज़ेशन' तथा काले धन पर आघात होने से इस उद्देश्य को प्राप्त किया जा सका, ऐसा उनका मानना है। लेकिन जनता को तो यही लगता है न

कि सारे पैसे डिपॉज़िट हो जाने का मतलब यह ही है कि काले धन पर कोई आघात नहीं हुआ । इसके अलावा अनौपचारिक अर्थ व्यवस्था को कितनी चोट पहुँची है, इसका कोई हिसाब नहीं है। नकद अर्थव्यवस्था ही अनौपचारिक अर्थव्यवस्था होती है। वह 'फार्मलाइज़' नहीं हुई पर कुछ दिन के लिए ठप्प तो हो ही गई थी।

नीति आयोग ने डिजिटलीकरण की बात उठाई है। ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि यह भी एक लघु-अविध तक ही चलने वाला असर रहा। अगर समांतर कालखंडों की तुलना की जाए तो लगता है कि नकद लेन-देन में कमी आई है। लेकिन जानकारों का मानना है कि आज की तारीख में नकद लेन-देन फिर से विमुद्रीकरण के पहले के स्तर तक पहुँच चुका है। अतः डिजिटल लेन-देन का वातावरण बनाने का लक्ष्य भी अध्रा ही रह गया लगता है! बस पेटीएम वगैरह ने कुछ समय में काफी बड़ी मात्रा में और काफी बड़े लेन-देन देखे!000

(डेली हिंदी मिलाप, 31/08/2018)

संवाद की नई पहल

खबर है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) के सरसंघचालक मोहन भागवत की 17 से 19 सितंबर, 2018 के बीच चलने वाली तीन दिवसीय व्याख्यानमाला में कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी और सीपीएम महासचिव सीताराम येचुरी जैसे भिन्न विचारधारा वाले राजनेताओं को खासतौर पर बुलाया जाने वाला है। इस अवसर पर आरएसएस प्रमुख देश के प्रबुद्ध नागरिकों से 'भविष्य का भारत : राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का दृष्टिकोण' विषय पर संवाद करेंगे। दिल्ली के विज्ञान भवन में चलने जा रही इस व्याख्यानमाला के माध्यम से संभवतः घृणा की राजनीति से प्रेरित उन अनेक मिथ्या धारणाओं का निराकरण हो सके जिनके चलते कांग्रेस और कम्यूनिस्ट पार्टियां संघ को खलनायक के रूप में पेश करती आई है।

राहुल गांधी को संघ की ओर से बुलावे की ये खबरें ऐसे वक्त और भी अर्थपूर्ण हो गई हैं जबिक हाल ही में जर्मनी और इंग्लैंड के अपने विदेश दौरे के दौरान उन्होंने संघ की तुलना मध्यपूर्व देशों के इस्लामी कट्टरपंथी संगठन मुस्लिम इदरहुड़ से करते हुए यह साबित करने का भरसक प्रयास किया है कि ये दोनों संस्थाएं आपस में काफी हद तक एक जैसी हैं और केवल सता पर कब्जा करने के लिए लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं का सहारा लेती हैं। मतलब कि दोनों ही की लोकतान्त्रिक प्रक्रियाओं में कोई आस्था नहीं है। उम्मीद की जानी चाहिए कि मोहन भागवत की क्लास में उनकी इस तरह की शंकाओं का समुचित समाधान किया जा सकेगा।

कुछ दिन पहले नागपुर अधिवेशन में पूर्व राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी को बुलाए जाने पर जिस तरह भौहें तनी थीं, अब कांग्रेस अध्यक्ष को बुलाए जाने पर भी तनेंगी ही। लेकिन भारतीय राजनीति को अब कमसेकम इतनी वयस्कता का परिचय तो देना ही चाहिए कि विचारों की भिन्नता किन्हीं दो व्यक्तियों, नेताओं या दलों को परस्पर अवांछित नहीं बना देती। असल में तो वैचारिक छुआछूत को भी अलोकतांत्रिक और अमानवीय माना जाना चाहिए। इस बात की संभावनाएं सदा खुली रहनी चाहिए कि हम साथ साथ बैठ कर एक दूसरे को समझने की कोशिश कर सकें और किसी भी प्रकार की कटुता के बिना असहमत भी रह सकें। यह तब ही संभव हो सकता है, जब प्रत्येक संस्था इस झूठे दंभ से मुक्त हो कि केवल मैं ही सही हूँ, तथा मेरे अलावा सब जनविरोधी हैं। इस व्याख्यानमाला के माध्यम से संघ एक ऐसा अवसर उपस्थित कर सकता है जिसका उपयोग कांग्रेस, कम्यूनिस्ट और भाजपा ही नहीं और भी तमाम विचारधाराओं के लोग एक साथ बैठ कर एक दूसरे को अपना दृष्टिकोण समझाने के लिए कर सकते हैं। यहाँ उनके समक्ष संसद जैसी बाध्यता नहीं होगी कि एक दूसरे को गरियाना ही ज़रूरी हो!

वैसे कांग्रेस और संघ के रिश्तों का इतिहास नफरत के साथ साथ तालमेल का भी रहा है। 1962 में चीनी आक्रमण के समय जब पंचशील की हवा निकल जाने के कारण तत्कालीन प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के होश खराब थे, उस वक्त देशभर से संघ के स्वयंसेवक सेना की मदद के लिए आगे आए। यहाँ तक कि नेहरू जी को 26 जनवरी, 1963 की परेड में शामिल होने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को आमंत्रित करना पड़ा। नेहरू जी के शब्दों में – "यह दर्शाने के लिए कि केवल लाठी के बल पर भी सफलतापूर्वक बम और चीनी सशस्त्र बलों से लड़ा जा सकता है, विशेष रूप से 1963 की गणतन्त्र दिवस परेड में भाग लेने के लिए आरएसएस को आकस्मिक आमंत्रित किया गया।" 1965 में भी लाल बहादुर शास्त्री ने संघ से मदद ली। संघ कार्यकर्ताओं ने दिल्ली की कानून व्यवस्था और यातायात नियंत्रण को हाथ में लिया तो इन कार्यों से मुक्त हुए पुलिसकर्मी सेना की मदद के लिए जा सके। माना तो यह भी जाता है कि कई मसलों पर इन्दिरा गांधी तथा संजय गांधी भी आरएसएस के विचारों से सहमत थे। 1977 में आरएसएस ने इन्दिरा गांधी को विवेकानंद रॉक मेमोरियल का उद्घाटन करने का न्योता दिया था। यदि इसके बाद भी कांग्रेस के लिए आरएसएस अछूत है तो हर कांग्रेसी को आगामी व्याख्यानमाला में जाना चाहिए।

लेकिन इस बुलावे को एक अच्छी शुरुआत मानते हुए भी; इस सच्चाई से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि संघ और भाजपा का राहुल गांधी के प्रति जैसा रवैया रहा है उससे लगता है कि वे उनके इंटेलेक्ट का सम्मान नहीं करते। ऐसे में उन्हें बुलाने का कारण सटीक नहीं लगता। बुलाना ही है तो किसी ऐसे व्यक्ति को बुलाइए जिसके इंटेलेक्ट का आप सम्मान करते हों। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 29/08/2018)

अमित करने की सोची-समझी चालें

लोकतंत्र में राजनीति का आदर्श उद्देश्य लोकहित या जनकल्याण होना चाहिए। इसी प्रकार राजनैतिक पार्टियों की एक आदर्श जिम्मेदारी जनता को लोकतांत्रिक मूल्यों के बारे में प्रशिक्षित करने और जागरूक बनाने की होती है। बेशक सभी राजनैतिक पार्टियां सैद्धांतिक रूप से इसे ही अपना आदर्श मानती हैं। लेकिन व्यवहार के स्तर पर वे इसके विपरीत आचरण करती हैं। यही कारण है कि बहुत बार हास्यास्पद हालात भी पैदा हो जाते हैं। इन दिनों आदर्श और यथार्थ के बीच की यह फाँक असम के राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर प्रकरण के संदर्भ में खास तौर पर उभर कर सामने आई है। व्यापक देशहित के विषयों को दलगत राजनीति में न घसीटने के परस्पर उपदेशों के बावजूद विभिन्न पार्टियों की पूरी कोशिश है कि इस मसले का राजनैतिक लाभ उनके सिवा कोई दूसरा न ले जाए। खासकर, कांग्रेस और तृणमूल कांग्रेस की दुरंगी चालें तो कभी-कभी चुटकुलों से भी अधिक हास्यपारक लगती हैं।

तृणमूल कांग्रेस और ममता बनर्जी की रुचि लंबे समय से बांग्लादेशी घुसपैठियों की पहचान करने और उन्हें वापस भेजने में रही है। लेकिन अब वे जिस प्रकार की उग्र प्रतिक्रिया कर रही हैं और गृहयुद्ध छिदने तक की भविष्यवाणी कर रही हैं, उससे तो यही प्रतीत होता है कि वे स्वयं तो भ्रमित हैं ही, जानबूझकर जनता को भी भ्रमित कर रही हैं। उन्हें लगता है कि एनआरसी के मसौदे के छप जाने से भारत के रिश्ते बांग्लादेश के साथ खराब हो जाएंगे। कोई उनसे पूछे कि इस दर से क्या हमें लंबे समय से बाधित पड़े इस कार्य को करने से बचना चाहिए। यह तो अपनी संप्रभुता और राष्ट्रीय गरिमा से सम्झौता करना होगा। पर उन्हें तो यहाँ तक लगता है कि इसका पूरी दुनिया पर खराब असर पड़ेगा।

ममता बनर्जी को दुनिया की परवाह है पर इसकी परवाह नहीं कि भारत के सुरक्षा बालों के मनोबल पर उनके इस बयान का कैसा असर होगा कि सुरक्षा बल सीमापार से आने वाले घुसपैठियों की तो अनदेखी करते हैं और साधारण जनता को बेवजह सताते हैं। इस प्रकार की निरधार बयानबाजी करके वे जनता को भ्रमित करना चाहती हैं ताकि यह दिखा सकें कि उन्हें साधारण जनता की कितनी फिक्र है। अचरज नहीं कि इस मुद्दे को भी वे भाजपा विरोधी गठबंधन के लाभार्थ इस्तेमाल करना चाहती हैं। पूर्व प्रधानमंत्री एचडी देवेगौड़ा का उनके समर्थन में उतरना भी इसी का सूचक है कि यह सारी कवायद अगले चुनाव को ध्यान में रखकर ही की जा रही है। अन्यथा होना तो यह चाहिए था कि ये लोग पश्चिम बंगाल के लिए भी राष्ट्रीय नागरिकता रजिस्टर योजना को लागू करने की मंशा जाहिर करते ताकि वहाँ घुसकर बैठे विदेशियों को पहचाना जा सके!

इसी तरह अगर कांग्रेस की इन दिनों की गतिविधियों को सरसरी तौर पर भी कोई देखे, तो समझ जाएगा कि उसे असम की भलाई की कोई चिंता नहीं, चिंता है तो केवल इस बात की कि एक बड़े कार्य का श्रेय लेने का अवसर उसके हाथ से निकल गया। यह सचकर ही हँसी आती है कि इस मसौदे के प्रकाशित होते ही पार्टी इतनी बौखला गई कि यह भूल गई कि इस फसल के बीज तो उसी ने बोए थे। हाथ नहीं पहुँचा तो लोमड़ी को अंगूर खट्टे लगने ही थे। कई दिन बाद उसे खयाल आया कि एनआरसी का इस तरह विरोध करके तो उसने भाजपा को यह कहने का अवसर दे दिया है कि कांग्रेस घुसपैठियों को संरक्षण प्रदान कर रही है। कोई और वक्त होता तो चलता, लेकिन यहाँ तो इलेक्शन सिर पर है। इसलिए उसने अपना रुख बदल लिया है। अब कांग्रेस का कहना है कि जिन 40 लाख लोगों की अर्जी ठुकरा दी गई है, उनमें जो लोग भारत के जेनुइन नागरिक हैं, कांग्रेस उनकी नागरिकता साबित करने में मदद करेगी। ऐसा करके वह यह जताना चाहती है कि वह 'विदेशियों' के साथ नहीं खड़ी है। कांग्रेस आजकल यह भी

सावधानी बरत रही है कि मुसलमानपरास्त न दिखे। इसलिए उसने इन 40 लाख में शामिल अन्य प्रांत वालों, बांग्लाभाषी हिंदुओं, जनजातियों, नेपालियों और पूर्व सैनिकों की मदद करना तय किया है। लेकिन क्या इससे वह काजल की रेखा धूल जाएगी जो कांग्रेस के चरित्र की पहचान बन गई है।

अंत में, असम सरकार और केंद्र सरकार दोनों से अपेक्षा की जानी चाहिए कि भारतीय नागरिकों और विदेशी घुसपैठियों की पहचान करने के इस कार्य को पूरी पारदर्शिता और निष्पक्षता के साथ सुप्रीम अदालत की निगरानी में संपन्न होना स्निश्चित करें। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 07/08/2018)

थोड़ी सी जगह विरोध के लिए

जनतंत्र का जीवन बड़ी हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि सत्ता और जनता के बीच सीधे संवाद कितना और कैसा है। सता पर भले ही जन-प्रतिनिधि आसीन हों, जनतंत्र में उसका स्रोत जन-समर्थन ही तो होता है। इसीलिए माना जाता है कि जनतंत्र में जनता ही संप्रभु होती है। यदि सत्ता का जनता से संवाद कट जाए तो समझना चाहिए कि कुछ अघटनीय घटने वाला है। इसे सता के चिरत्र में बदलाव की पूर्व-सूचना भी कहा जा सकता है। सता को तानाशाही की ओर बढ्ने से रोकने के लिए जनता का अंकुश तो चाहिए ही। धरना और प्रदर्शन भी जनता की आवाज़ को सत्ता तक पहुँचाने के खुले मंच हैं जो किसी भी जनतंत्र के स्वास्थ्य के लिए बेहद ज़रूरी हैं। ये न रहें तो सत्ता के मदमत हो जाने का खतरा बढ़ जाता है। इसलिए किसी भी समाज को यथासंभव इन मंचों को बचाकर रखना चाहिए। इसी कारण भारत जैसे देश में आम तौर पर हर राज्य की राजधानी से लेकर देश की राजधानी तक में कुछ ऐसे स्थान, मैदान या मंच स्वतः विकसित हो गए हैं जिंका उपयोग आम जनता अपनी आवाज़ सत्ता तक पहुँचाने के लिए करती है। राष्ट्रीय राजधानी में बोट क्लब और जंतर मंतर विरोध व्यक्त करने के ऐसे ही सार्वजनिक स्थल रहे हैं।

पिछले सप्ताह भारत की सर्वोच्च अदालत ने भी असहमित या विरोध प्रकट करने के इन स्थानों की उपलब्धता को अनिवार्य माना। उसके अनुसार शांतिपूर्ण ढंग से असहमित या विरोध प्रकट करना नागरिकों का मौलिक अधिकार है जिसके लिए उसे उचित स्थान मिलना ही चाहिए। सर्वोच्च अदालत के इस फैसले से बोट क्लब और जंतर एक तरह से जनता को वापस मिल गए जिनसे उसे कुछ समय से वंचित रखा जा रहा था।

दरअसल लंबी अविध से दिल्ली में बोट क्लब धरना-प्रदर्शन का पर्याय बन गया था। इस पर 1993 में हाईकोर्ट ने पाबंदी लगा दी गई और विकल्प के रूप में ऐसे आयोजनों के लिए जंतर मंतर को निर्धारित कर दिया गया। लेकिन पिछले साल पर्यावरण की दुहाई देकर जनता की आवाज़ को इस जगह से भी बेदखल कर दिया गया। नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल (एनजीटी) ने अक्तूबर 2017 में फरमान जारी कर दिया कि धरना-प्रदर्शन के कारण जंतर मंतर के इलाके में

पर्यावरण को नुकसान पहुँचता है और प्रदूषण बढ़ता है इसलिए वहाँ ऐसी गतिविधि न की जाए। यह फरमान तुरंत लागू हो गया। प्लिस ने प्रदर्शनकारियों के तंबू उखाड़ फेंके और धारा 144 भी थोप दी गई।

एनजीटी की चिंता जायज थी, इसमें दो राय नहीं। उसका फरमान भी सदाशयता पूर्ण था, यह भी ठीक है। इसीलिए उसने विकल्प के रूप में धरना-प्रदर्शन के लिए रामलीला मैदान दिए जाने का भी निर्देश दिया था। लेकिन यदि किसी प्राधिकरण की सदिच्छा जनतंत्र की मूल भावना पर ही कुल्हाड़ी चलाती हो तो क्या किया जाए? पर्यावरण संरक्षण बड़ी चीज़ है। लेकिन क्या वह इतनी बड़ी चीज़ है कि लोगों का असहमित प्रकट करने का हक उसके आगे बौना बना दिया जाए? इसीलिए जनता के इस हक की खातिर पूर्व सैनिकों और किसान-मजदूरों ने कानूनी लड़ाई छेड़ दी। सर्वोच्च अदालत ने उनकी बात सुनी और बोट क्लब तथा जंतर मंतर पर धरना-प्रदर्शन पर लगी पाबंदी हटा दी। सर्वोच्च अदालत ने दिल्ली के पुलिस किमश्नर को ऐसी आचारसंहिता तैयार करने को कहा है कि विरोध की आज़ादी और पर्यावरण की रक्षा दोनों को साथ-साथ स्निश्चित किया जा सके।

इस निर्णय को जनतंत्र के अधिकार की बहाली के रूप में देखा जाना स्वाभाविक है। इसे भारतवर्ष के स्वतंत्रता आंदोलन के उस अस्त्र को समृद्ध करने के न्यायिक प्रयास के रूप में भी देखा जाना चाहिए जिसे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने 'सत्याग्रह' कहा था और सविनय अवज्ञा आंदोलन, नमक आंदोलन तथा भारत छोड़ो आंदोलन जैसे धरना-प्रदर्शनों के सहारे हथियारबंद उपनिवेशवाद के समक्ष निहत्थी जनता को खड़ा किया था।

... अंत में इतना ही कि कोपभवन की स्विधा तो अवधप्री के राजभवन तक में होती थी!000

(डेली हिंदी मिलाप, 01/08/2018)

महागठबंधन और प्रधानमंत्री का चेहरा

2019 की ओर कदम बढ़ाती भारतीय राजनीति चुनावों तक अब जनता के दरबार में नित नई लीलाएँ रचेगी, इसके संकेत मिलने शुरू हो गए हैं। भाजपा-राजग के विकल्प के रूप में महागठबंधन की रचना ऐसी ही एक अत्यंत कौतूहलपूर्ण लीला है। कई महीने से विपक्ष के धुरंधर नेता अपने-अपने ढंग से इसके लिए प्रयासरत हैं। इन प्रयासों के परिणाम स्वरूप गठजोड़ की नई-नई शक्लें समय-समय पर उभरती दिखाई देती रहती हैं। लेकिन अभी कोई अंतिम शक्ल नहीं बन पा रही है। ऐसा होना आसान नहीं है। पर असंभव भी नहीं। बिखरे रहकर भी मौका पड़ने पर एकजुट हो जाना भारत के राष्ट्रीय चरित्र की एक विशेषता रही है। अगर सामने कोई एक बड़ी चुनौती हो तो उसके खिलाफ खड़े होने के लिए भानुमती का कुनबा एक जगह जमा हो ही जाता है। इसके उदाहरण खोजने के लिए इतिहास में बहुत पीछे जाने की ज़रूरत नहीं। बस इतना भर याद कर लेना काफी है कि कैसे कांग्रेस की महाशक्ति का सामना करने के लिए कांग्रेसविरोधी सारे दल एकजुट होकर उसे चुनौती देने में सफल रहे हैं। अर्थात विपक्ष के एकजुट होने के लिए टारगेट की एकता का बोध तब भी ज़रूरी था और आज भी ज़रूरी है।

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी और भाजपा अध्यक्ष अमित शाह के रूप में आज चूँिक विपक्ष अपने 'साझा टारगेट' को पहचान रहा है, इसलिए उसका एक 'छतरी' के नीचे आ जुटना सहज संभव है। यह धीरे-धीरे हो रहा है। लेकिन समस्या इस सवाल पर आकर अटक जाती है कि 'छतरी' किसकी हो! अर्थात, ऐसे एकजुट गठजोड़ या महागठबंधन का सामूहिक चेहरा कौन बने? यह सरलता से सुलझने वाला सवाल नहीं है। यह छतरी संभावित प्रधानमंत्री के नाम की छतरी है और हर कोई इसे अपने हाथ में रखना चाहेगा।

कांग्रेस ने विपक्ष के एकजुट होने की पहली शर्त के तहत संयुक्त महाशत्रु के रूप में मोदी-शाह, या कहें कि भाजपा-आरएसएस, का हौवा खड़ा करने में तो सफलता पा ली है। इस साझा भय का सामना करने के लिए क्षेत्रीय दलों को एकजुटता से इनकार नहीं। पर प्रधानमंत्री पद के दावेदार के रूप में कांग्रेस के अध्यक्ष राहुल गांधी की सर्व स्वीकार्यता इतनी आसान नहीं है। कांग्रेस भले ही इस छतरी को अपना विशेषाधिकार माने, मायावती से लेकर शरद पवार तक वर्तमान विपक्ष के तमाम दिग्गजों को इस छतरी के नीचे आना भला क्यों नहीं नागवार गुजरेगा? एकजुट होकर विपक्ष आगामी चुनाव के प्रचार के दौरान प्रधानमंत्री के चेहरे के तौर पर किसका नाम सर्व सम्मित से जनता के सामने रखे, इस यक्षप्रश्न के उभरते ही महत्वाकांक्षाओं का टकराव स्वाभाविक है – यह अभी से साफ दिख रहा है।

कांग्रेस अध्यक्ष की प्रधानमंत्री बनने की आकांक्षा में यों तो कुछ अस्वाभाविक नहीं। न ही उस पार्टी का ऐसा चाहना कोई अपराध है। इसीलिए शायद सोचे-समझे ढंग से कुछ माह पहले, यानी कर्नाटक विधान सभा चुनाव के लिए प्रचार के दौरान, पार्टी और नेता ने अपनी इस इच्छा को मुखरित हो जाने दिया। इसी के साथ मोदी-विरोधी ताकतों को जोड़ने के प्रयासों को गित प्रदान की गई, तािक अपनी दावेदारी को तर्कसंगत बताया जा सके। लेिकन इस कोिशश के समांतर अन्य विभूतियों की इच्छाएँ भी सामने आनी ही थीं। आ गईं। इसीलिए जब पिछले दिनों कांग्रेस कार्यसमिति के गठन के अवसर पर पी. चिदंबरम की एक प्रस्तुति के माध्यम से प्रधानमंत्री पद के चेहरे के रूप में कांग्रेस अध्यक्ष का नाम आगे किया गया और उन्हें पार्टी ने संभावित महागठबंधन की रीति-नीति तय करने से लेकर सीटों के बँटवारे के बारे में फैसले तक के लिए अधिकृत किया, तो संभावित साथियों ने भी अपनी इच्छाएँ उजागर कर दीं।

बसपा सुप्रीमो मायावती ने कहा है कि मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्ठान के आगामी विधानसभा चुनावों में तभी मिलकर लड़ा जा सकता है जब सीटों का बँटवारा 'सम्मानजनक' हो। बिहार से तेजस्वी यादव की आवाज़ भी सुनाई पड़ चुकी है। इसका अर्थ है कि महागठबंधन का प्रधान चेहरा केवल कांग्रेस तय नहीं कर सकती। ममता बनर्जी, मायावती, चंद्रबाबू नायडू और शरद पवार सिहत कई चेहरे और भी हैं, जिनकी अनदेखी करके संयुक्त टारगेट के बावजूद एकजुटता खतरे में आ सकती है। इस खतरे को भाँपकर ही कांग्रेस ने एक बार फिर 'त्याग' की चाल चलते हुए यह प्रस्ताव किया है कि मोदी-शाह के विजय-रथ को रोकने के बड़े उद्देश्य के लिए वह अपनी इच्छा का दमन करने को तैयार है और उसे ऐसा कोई भी चेहरा भावी प्रधानमंत्री के रूप में स्वीकार होगा जो बस राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से कहीं भी कभी भी जुड़ा न रहा हो। हो सकता है कि कांग्रेस की इस त्याग-मुद्रा से महागठबंधन को ममता-माया का स्त्री-चेहरा मिल जाए। लीला जारी है। देखें आगे क्या होता है1000

(डेली हिंदी मिलाप, 28/07/2018)

आम चुनाव की दहलीज पर खड़ी देश की बेहतर आधी आबादी इस आशंका से काँप रही है कि सियासत के बड़े खिलाड़ियों की सोची-समझी चालें कहीं एक बार फिर महिला आरक्षण बिल की बिल न ले लें! पिछले चार सालों में किसी ने इस बिल की सुध न ली और अब संसद के मानसून सत्र के ऐन पहले कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी को याद आया कि यह तो सरकार को घेरने और अगले साल चुनाव में भुनाने के लिए काफी उपजाऊ मुद्दा है। बस फिर क्या था; उन्होंने चल दी अपनी चाल। प्रधानमंत्री मोदी महिला हितों की उपेक्षा का दोषी करार देते हुए अपनी चिट्ठी में उन्होंने बिल पास कराने के लिए बिना शर्त मदद की पेशकश कर ही तो दी।

कांग्रेस अध्यक्ष ने प्रधानमंत्री को खत लिखकर याद दिलाया कि महिला आरक्षण बिल को 9 मार्च, 2010 को राज्यसभा में पारित किया गया था। उस समय लोकसभा में बहुमत न होने के कारण कांग्रेस वहाँ इस बिल को पास न करा सकी थी। हालांकि तब राज्यसभा में भाजपा ने गर्मजोशी से इस बिल का समर्थन किया था और विपक्ष के नेता अरुण जेटली ने इसे ऐतिहासिक क्षण बताया था। विडंबना यह कि आज तक वह क्षण वहीं लटका है। आठ साल तक न तो भाजपा ने उसकी सुध ली, न कांग्रेस ने। इसीलिए आज अचानक खोई याद वापस आने से आशंका जगना स्वाभाविक है।

कांग्रेस यह भी याद दिला रही है कि भाजपा ने अपने 2014 के चुनावी घोषणापत्र में इस बिल को पास कराने का वादा किया था जिसे अभी तक पूरा नहीं किया गया है। हो सकता है, उसकी नीयत साफ हो; पर सवाल तो उठता ही है कि, चार साल तक उसे अपना यह विपक्ष-धर्म याद क्यों नहीं आया? यदि आप इतने गंभीर थे तो इतने दिन कहाँ थे? दरअसल, सियासी नजिरए से यह समय इस मुद्दे को उठाने के लिए सबसे अनुकूल है। अगर अपने बहुमत के कारण सरकार इस बिल को लोकसभा में पास करा ले, तो यह पेशकश इसका सारा श्रेय सरकार की झोली में न जाने देगी। इसीलिए दबाव बनाने की खातिर महिला आक्रोश रैली की भी योजना आनन-फानन सामने आ गई है। उद्देश्य स्पष्ट है कि स्त्री सशक्तीकरण के नाम पर तरह-तरह के कार्यक्रमों की शृंखला चलाने वाली सरकार से यह अपेकषा है कि वह इस बिल को पास कराकर अपनी सदाशयता प्रमाणित करे। अन्यथा विपक्ष के हाथ अगले चुनाव के लिए एक मुद्दा बैठे-बिठाए लग गया समझिए कि भाजपा तो महिला विरोधी है!

बिना शर्त समर्थन के नहले पर भाजपा ने भी अपने हिसाब से दहला जड़ दिया है। उसका कहना भी ठीक लगता है कि यदि महिलाओं को लेकर इतनी हमदर्दी जाग ही रही है तो क्यों न लगे हाथ आप तीन तलाक पर रोक लगाने वाले विधेयक को भी पास करा दें। डर यही है कि इस नहले-दहले के चक्कर में कहीं दोनों ही बिल एक बार फिर न अटक जाएँ। भाजपा को भली प्रकार मालूम है कि भाजपा तीन तलाक और हलाला से जुड़े बिल को अटकना चाहती है। दूसरी तरफ कांग्रेस को भी पता है कि उसके समर्थन के बावजूद महिला आरक्षण बिल को पास कराना आसान नहीं है। स्वयं कांग्रेस के कई सहयोगी दल इस मुद्दे पर उसका साथ नहीं देंगे। क्या राहुल गांधी ने उन साथियों का मन टटोला है जो या तो आरक्षण के भीतर आरक्षण चाहते हैं या समर्थन का केवल पाखंड करते हैं? उन तत्वों को निष्क्रिय करने का उनके पास क्या कोई नुस्खा है जिन्होंने पिछली बार सदन में इस बिल की चिंदियाँ उड़ाई थीं?

यह तो एकदम साफ है कि दोनों ही पक्ष एक-दूसरे को घेरकर अपनी सियासत चमकाने के चक्कर में हैं। बेहतर हो कि महिला-महिला चीखकर छाती पीटने के बजाय सारे राजनैतिक दल व्यावहारिक स्तर पर उनका समर्थक होना सिद्ध करें। इसके लिए उन्हें बस इतना करना होगा कि अगले आम चुनाव में 33 प्रतिशत सीटों पर केवल महिलाओं को टिकट देकर अपनी नेकनीयती दर्शाएँ। फिलहाल तो दुष्यंत कुमार के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि-

मस्लहत-आमेज़ होते हैं सियासत के कदम, तू न समझेगा सियासत, तू अभी नादान है। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 19/07/2018)

कब बरसेगी मर्यादा पुरुषोत्तम की कृपा

जैसे-जैसे 2019 नजदीक आ रहा है, वैसे-वैसे वोट खींचने वाले मुद्दों की तलाश और पड़ताल का घनघोर वातावरण बनना शुरू हो गया है। कई दशकों से जन भावनाओं को उद्वेलित कर रहा राम जन्मभूमि मंदिर निर्माण का मुद्दा भी इसीलिए नए तेवर के साथ विकास-फिकास को पीछे धकेल कर ऊपर आने की कोशिश करता दिखाई दे रहा है। इसकी एक झलक कुछ दिन पूर्व अयोध्या में हुए संतों के सम्मेलन में उस समय देखने को मिली जब, शायद उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री महोदय की कल्पना के विपरीत पूर्व सांसद और राम जन्मभूमि न्यास के विरष्ठ सदस्य डॉ. रामविलास दास वेदांती अचानक बिफर पड़े।

डॉ. वेदांती के इन दुर्वासा वचनों से किसी का भी सकते में आ जाना स्वाभाविक था कि भारतीय जनता पार्टी अगर राम मंदिर का निर्माण नहीं कराएगी तो उसका रसातल में जाना तय है। उनका ताल ठोंककर यह कहना केवल भावावेश प्रतीत नहीं होता कि 2019 से पहले बिना कोर्ट के आदेश के राम मंदिर का निर्माण शुरू होगा, ठीक वैसे ही जैसे विवादित ढांचा ढहाया गया था। उनके ये वचन जहाँ एक ओर राजनीति से हताशा और मोहभंग का पता देते हैं; वहीं दूसरी ओर क्या इनमें मंदिर निर्माण से जुड़ी नई राजनीति की आहट नहीं सुनाए पड़ रही है। यह शायद किसी बड़ी कार्रवाई का इशारा है; संदेश भी। उन्होंने याद दिलाया कि बाबरी मस्जिद के ध्वस्त ढाँचा वास्तव में राम मंदिर का खंडहर था जिसे इसीलिए गिराया गया था कि उसके स्थान पर भव्य मंदिर बन सके।

इस पर उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री महोदय के कान खड़े होने ही चाहिए थे। उन्हें शायद इतने तीखे बोलों की उम्मीद नहीं थी। ऐसे में उन्होंने महंत मुद्रा अख़्तियार करके शांति स्थापित करने की कोशिश की। उस वक्त वही उचित भी था। योगी आदित्यनाथ ने तर्जनी दिखते हुए याद दिलाया कि सरकार लोकतांत्रिक मर्यादाओं से बँधी हुई है और राम तो मर्यादा पुरुषोत्तम तथा इस ब्रह्मांड के स्वामी हैं। जब रामजी की कृपा होगी तो अयोध्या में मंदिर बनकर ही रहेगा। उन्होंने राम-कृपा पर संदेह करने वाले संतों से कुछ दिन और धैर्य रखने को कहा और उपदेशा कि आशावाद पर दुनिया टिकी हुई है। मौके को राम का नाम लेकर सँभाल तो लिया गया लेकिन इस नए घटनाचक्र और संतों के बिफरे हुए मूड के कारण खटका तो लगा ही रहेगा। जानकारों का तो यह भी कहना है कि इस अवसर का लाभ वक्फ बोर्ड अपने ढंग से उठाने की कोशिश कर सकता है ताकि सरकार और संतों के बीच तनातनी बनी रहे और मूल मसला वैसे ही लटका रहे जैसे जमाने से लटका है। इसीलिए उधर से यह बयान आया है कि कुछ लोग धर्म के नाम पर सीएम को टॉर्चर कर रहे हैं!

वैसे एक बार फिर यह विचार भी सामने आ रहा है कि बाबरी मिस्जिद का नाम ज़रूर बाबरी रहा है लेकिन उसका बाबर से कुछ लेना देना नहीं। पूर्व आईपीएस और कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व उपकुलपित किशोर कुणाल की पुस्तक 'अयोध्या रिविज़िटेड' के हवाले से याद दिलाया जा रहा है कि अयोध्या में राम मंदिर था, इसके प्रमाण हैं और इसके भी जरूरी साक्ष्य उपलब्ध हैं कि "इसे औरंगजेब के सौतेले भाई फिदायी खान ने उसके शासनकाल में तुड़वाया था। न तो बाबर ने उसे बनवाया और न ही मंदिर तुड़वाया। बाबरी मिस्जिद बाबर ने नहीं बनवाई थी। बाबर कभी अयोध्या नहीं गया। जो शिलालेख मिस्जिद पर लगे थे वे फर्जी हैं।" इस किताब के म्ताबिक 1858 से पहले

यहां नमाज़ और पूजा दोनों की जाती थीं। लेकिन 1858 के बाद इसे रोक दिया गया। ये तथ्य इस मसले को हल करने में सहायक हो सकते हैं।

इस बीच 'बैठे ठाले कुछ तो करना ही है' जैसे विचार से प्रेरित शरद यादव महोदय ने भी पत्रकारों के समक्ष यह कहकर नई चिनगारी छोड़ दी है कि राम जन्मभूमि में उनकी कोई श्रद्धा नहीं है तथा वे ज़िंदा आदमी को पूजते हैं। मतलब साफ है कि राजनीति चालू है और मंदिर का काम अटका हुआ है। जानकारों का यह भी कहना है कि अब इन तिलों में तेल नहीं बचा है। इसलिए बुद्धिमानी इसी में है कि इन्हें राम-कृपा के हवाले छोड़कर कुछ नए मुद्दे तलाशे जाएँ। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 30/06/2018)

लौहप्रुष की छवि धुमिल करने का प्रयास!?

प्रोफेसर सैफुद्दीन सोज़, लगता है, राजनीति के साथ-साथ प्रचार तंत्र के भी बड़े खिलाड़ी हैं। अपनी किताब 'कश्मीर: ग्लिम्पसेज़ ऑफ हिस्ट्री एंड स्टोरी ऑफ स्ट्रगल' के आने के ठीक पहले उन्होंने एक शिगूफ़ा छोड़ा कि परवेज़ मुशर्रफ का यह मत सही है कि कश्मीरी अवाम पाकिस्तान के साथ जाना नहीं, आज़ाद होना चाहती है। हर तरफ से आलोचना हुई तो पलटी मार गए कि ऐसा तो हो ही नहीं सकता। लेकिन किताब के विमोचन के ऐन मौके पर चौका जड़ने से बाज़ नहीं आए। लौहपुरुष सरदार पटेल को लेकर उन्होंने जो बयानबाजी की, उसका परिणाम उनके लिए सुखद रहा। किताब सुर्खियों में आ गई!

सोज़ महोदय के इस बयान को गैरजिम्मेदारना ही नहीं दुष्टतापूर्ण भी कहा जाना चाहिए कि, 'सरदार पटेल ने पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधानमंत्री लियाकत अली खान को कश्मीर की पेशकश की थी. पटेल ने लियाकत से कहा था कि हैदराबाद के बारे में बात मत करो, अगर आप चाहो तो कश्मीर ले लो. लियाकत अली खान युद्ध की तैयारी में था, लेकिन सरदार पटेल ऐसा नहीं चाहते थे.' इतना ही नहीं उन्होंने तो यहाँ तक भी कह डाला कि सरदार पटेल कश्मीर के मामले में व्यावहारिक थे और हमेशा चाहते थे कि कश्मीर का विलय पाकिस्तान में हो जाए, लेकिन जवाहर लाल नेहरु ऐसा नहीं चाहते थे. उनके अनुसार आज अगर जम्मू-कश्मीर भारत के पास है तो इसका श्रेय नेहरु को जाता है।

दरअसल इस एक बयान से कई निशाने साधे गए हैं। पहला, किताब का प्रचार। दूसरा, लौहपुरुष सरदार पटेल की छिवि धूमिल करना। तीसरा, मुशर्रफ वाले बयान से नाराज़ कॉग्रेस के अपने आकाओं को खुश करना। उनकी किताब कोई खरीदे या वह कचरापेटी की शोभा बढ़ाए; उनके आका-गण खुश रहें या नाखुश – इन बातों से मुल्क का कुछ लेना-देना नहीं है। लेकिन, पटेल के नायकत्व को जो चुनौती दी गई है, वह चिंता का सबब है। इस देश की स्मृति में दर्ज़ है कि स्वतंत्र भारत के एकीकरण और कश्मीर में भारत के विलय का श्रेय निर्विवाद रूप से सरदार वल्लभभाई पटेल

को जाता है। उनकी दृढ़ता और दूरदर्शिता के कारण ही महाराजा हरिसिंह ने विलय के समझौते पर हस्ताक्षर किए थे। जूनागढ़ और हैदराबाद का इस मामले से कुछ भी लेना-देना नहीं रहा। यह सोचना भी कि पटेल हैदराबाद के बदले कश्मीर पाकिस्तान को देने के पक्ष में थे, पूरी तरह अप्रामाणिक और साजिशपूर्ण है। साजिश लौहपुरुष को खलनायक बनाने की!

हम पूछना चाहते है कि यदि ऐसा कुछ था तो महात्मा गांधी से लेकर जवाहरलाल नेहरु, सरदार पटेल, मुहम्मद आली जिन्ना से शेख अब्दुल्ला तक किसी ने कहीं भी इसका ज़िक्र क्यों नहीं किया या इसका कोई रिकार्ड किसी भी दस्तावेज़ में क्यों नहीं मिलता। सुनने में आया है कि यह कल्पना अपने लेखन में राजमोहन गांधी और कुलदीप नैयर ने कहीं की है, लेकिन कोई प्रमाण कहीं उद्धृत नहीं किया है। यों, इसे भंग की तरंग से ज़्यादा महत्व देने की ज़रूरत प्रतीत नहीं होती।

बिल्ली के सपनों से देश का इतिहास नहीं पलटता। तब भी, जानकारों की इस बात को दोहराया जा सकता है ताकि सनद रहे कि 1947 में ने विवाद के कारण कश्मीर के बिना आज़ादी स्वीकार की थी और महाराजा हरिसिंह को आत्मनिर्णय का समय दिया गया था। वे अभी सोच-विचार में थे कि पाकिस्तान ने कबायिलयों के सहारे कश्मीर पर हमला कर दिया और भीषण अत्याचार ढाए। ऐसे में भला महाराजा हरिसिंह उधर जाने की भी कैसे सोच सकते थे? उन्होंने भारत में विलय का विकल्प चुनते हुए दिल्ली से सैनिक सहायता माँगी। लोहा गरम देखकर लौहपुरुष ने सीधी चोट की और दृढ़ता से यह संदेश दे दिया कि जब तक महाराजा विलय के दस्तावेज़ पर दस्तखत नहीं करते, तब तक उनकी रक्षा के लिए फौज नहीं जाएगी। नतीजतन, आनन-फानन बैठक हुई और विलय का समझौता संपन्न हुआ। इसी के साथ लौहपुरुष ने गर्जना की, 'सेनापतियों, सुन लीजिए! साधन-सामग्री हो या न हो, भारत सरकार से जो बन पड़ेगा, आपकी मदद करेगी लेकिन कश्मीर किसी भी कीमत पर हाथ से जाना नहीं चाहिए।' और फिर जो हुआ, सब जानते हैं। भारतीय सेना की जीत हुई और पाकिस्तानियों को कश्मीर से मार भगाया गया। इस इतिहास को देखते हुए तो प्रोफेसर सैफुद्दीन सोज़ की हैदराबाद के बदले कश्मीर देने की थ्योरी निंदनीय साजिश के अलावा कुछ और नहीं ठहरती। ईश्वर उन्हें सद्बुद्धि दे! 000000

(डेली हिंदी मिलाप, 28/06/2018)

कश्मीर में शहादतों का सिलसिला रुकने की उम्मीद

जम्मू और कश्मीर राज्य में राज्यपाल शासन के लागू होते ही व्यवस्था को चाक-चौबंद करने और आतंकियों की नकेल कसने का अभियान पूरी शक्ति से चल पड़ने की खबरें आ रही हैं। इस बीच केंद्रीय मंत्री अरुण जेटली ने सोशल मीडिया के अपने एक बयान में आतंकियों और जेहादियों की गतिविधियों के कारण प्रभावित होने वाले आम नागरिकों के मानव अधिकारों के हनन का मुद्दा उठाया है। ठीक भी है, क्योंकि सामूहिक नरसंहार से भयभीत होकर अपना सब कुछ छोड़-छाड़ कर घाटी से पलायन कर चुके कश्मीरी पंडितों और सिख परिवारों को भी न्याय पाने और वापस

अपने घर लौटने का अधिकार है। बात कश्मीर की हो या देश के किसी और इलाके की, लोकतंत्र और लोक की रक्षा सर्वोपरि है। इन दोनों को हानि पहुँचाने के कारण आतंकवाद निंदा ही नहीं, नाश का पात्र है।

मानव अधिकारों की चिंता करने वाले बुद्धिजीवियों और संगठनों को आतंकियों के बारे में चिंतित होने का हक़ हो सकता है, लेकिन उन्हें यह भी खयाल रखना चाहिए कि इन आतंकियों और जिहादियों की ही हिंसक गतिविधियों से सताए गए कश्मीर से भागे हुए जाने कितने पंडित और सिख परिवार देश भर में शिक्षा, रोजगार और ठिकाने के लिए भटकते फिर रहे हैं। अरुण जेटली ने बाकायदा उदाहरण देकर बताया है कि इस कारण देश को मानव संसाधन की दिष्ट से भारी नुकसान हो रहा है क्योंकि जिन प्रतिभाओं को राष्ट्र-निर्माण में लगना चाहिए था वे असुरक्षा-भाव से भरी अनिश्चितता का अभिशाप भोग रही हैं।

घाटी के सामान्य नागरिकों को उनकी सामान्य दिनचर्या वापस लौटाने की जिम्मेदारी अब राज्यपाल के माध्यम से केंद्र पर है। सुरक्षा-जवानों की शहादत के रूप में देश जो कई वर्षों से बड़ी कीमत चुकाता आ रहा है, उसका सिलसिला अब रकना चाहिए। आतंकियों को जहाँ-जहाँ से भी आर्थिक और नैतिक पोषण मिलता है, उन स्रोतों को बंद करना ज़रूरी है। यह सर्वविदित रहस्य है कि माओवादी हों या जेहादी, अतिवादी गतिविधियाँ काले धन के बल पर चलती हैं। इसके लिए वे तरह-तरह की योजनाओं से जुड़े ठेकेदारों, ट्रांसपोर्टरों तथा छोटे और मझोले उद्योगों के मालिकों से लेकर अवैध कारोबार करने वालों तक से वसूली करते हैं – भारतिवरोधी ताकतों से प्राप्त फंड तो अपनी जगह है ही। सैनिक कार्रवाई चलाने के साथ-साथ ये सारे रास्ते बंद होने चाहिए।

किसी भी संगठन या विचारधारा को आर्थिक सहायता की तुलना में बड़ी सहायता नैतिक (या अनैतिक?) समर्थन से मिलती है। कहना न होगा कि नेताओं से लेकर बुद्धिजीवियों तक में ऐसे तत्व विद्यमान हैं जिनकी सहानुभूति आज भी आतंकियों के साथ है। ढेखना होगा कि राज्यपाल शासन उनके साथ किस तरह निबटता है। हमें नहीं लगता कि उनपर देशद्रोही आदि जैसा ठप्पा लगाने की ज़रूरत है। उनकी गतिविधि को नियंत्रित करना भर काफी होगा, ताकि उनके बयान कहीं शांति और व्यवस्था को भंग न कर सकें। उनके साथ खुले मन से बातचीत भी की जा सकती है तािक लोकतांत्रिक प्रक्रिया में शामिल हो सकें। लोकतंत्र में असहमित और संवाद के लिए हमेशा जगह रहनी चाहिए।

अब देखिए न, जैसे ही जम्मू और कश्मीर का दृश्य बदला, आतंकियों से सहानुभूति रखने वाले नेताओं के सुर भी ऊँचे होने लगे। सैफुद्दीन सोज़ साहब ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "मुशर्रफ ने कहा था कि कश्मीरी पाकिस्तान के साथ नहीं जाना चाहते हैं, उनकी पहली माँग आज़ादी है। यह बयान तब भी सच था और आज भी सच है। मैं भी यही कहता हूँ लेकिन यह संभव नहीं है"। जम्मू और कश्मीर को भारत का हिस्सा मानने वाला कोई भी नागरिक इस बयान का समर्थन नहीं कर सकता। लेकिन ऐसी चीजों को ज़्यादा हवा देना भी गैर-ज़रूरी लगता है। ज़रूरी है, घाटी में स्थितियों का सामान्य होना, वहाँ के निवासियों का स्वयं को सुरक्षित महसूस करना और वहाँ जाने वालों को निरापद पर्यटन का पक्का भरोसा मिलना। 00000

चुनाव सुधार और संघीय ढाँचे के बीच तनातनी

चुनाव प्रक्रिया में सुधार की बात यों तो शायद पहले आम चुनाव से ही शुरू हो गई होगी। लेकिन जिस शिद्दत के साथ पिछले कुछ समय से 'एक देश, एक चुनाव' के विचार को बार बार दोहराया जा रहा है, वह विचारणीय है। दो अलग अलग तरह की बातें सामने आ रही हैं। एक यह कि रोज़ रोज़ का महँगा चुनावी झमेला विकास की राह का काँटा है; इसलिए सारी विधानसभाओं के चुनाव भी लोकसभा के साथ ही एक बार में निपटा दिए जाने चाहिए। दूसरा यह कि यह विचार संविधान की भावना और देश के संघीय ढाँचे के पूरी तरह खिलाफ है। कुल मिलाकर, इधर जाऊँ या उधर जाऊँ, मैं किधर जाऊँ - वाले हालात हैं।

लोक सभा, विधान सभा और यहाँ तक कि स्थानीय निकायों तक के चुनाव एक साथ कराने के पक्ष में सबसे बड़ी दलील यह आई है कि चुनावों पर खर्च लगातार बढ़ता जा रहा है, अगर सारे चुनाव एक होंगे और 5 साल तक के लिए होंगे तो बहुत सा खर्च बच जाएगा - समय और ऊर्जा भी। इस बचत को देश की विकास योजनाओं में लगाना बेहतर और फलदायी होगा।

सवाल यह है कि चुनाव प्रणाली को कम खरचीली बनाने का क्या यही एक रास्ता है? हुमें संसदीय लोकतंत्र चाहिए या ऐसी 'कोई भी' व्यवस्था जो कम खर्चीली हो? केवल कम खर्च वाली बात सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती, तो हम राष्ट्रपति प्रणाली से लेकर धार्मिक शासन, राजतंत्र, सैनिक शासन, एकदलीय व्यवस्था और तानाशाही तक किसी को भी अपना सकते थे। लेकिन हमने बहुदलीय संसदीय प्रजातांत्रिक व्यवस्था चुनी है। इसका आधार ही है - स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव।

पूछा जा सकता है, क्या एक साथ होने से चुनाव स्वतंत्र और निष्पक्ष नहीं रहेंगे? रहेंगे; पर जनता की इच्छा का आईना नहीं होंगे। राजनैतिक विश्लेषकों का मानना है कि भारत जैसे बड़े देश में स्थानीय निकायों, विधानसभाओं और लोकसभा की सीटों के लिए चुनावी मुद्दे प्रायः अलग अलग होते हैं/ तथा मतदान का पैटर्न भी अलग अलग होता है। जिस प्रकार बड़ा बाज़ार छोटे बाज़ारों को खा जाता है, उसी प्रकार बड़े अर्थात लोकसभा चुनाव के मुद्दे छोटे अर्थात स्थानीय चुनाव के मुद्दों को खा लेंगे। अगर ऐसा हुआ तो राजनीति और प्रशासन के लिए 'ग्रास रूट लेवल' के मुद्दे महत्वहीन हो जाएँगे। तब चुने हुए प्रतिनिधि उनके प्रति किसी प्रकार की प्रतिबद्धता महसूस नहीं करेंगे। (वैसे अब भी कहाँ करते हैं?) क्या कुछ करोड़ राशि बचाने के लिए,, हुमें यह खतरा मोल लेना चाहिए?

तनिक सा ध्यान देने पर ही, यह बात समझ में आ जाती है कि हमारे संविधान में राज्य 'इकाई' है और केंद्र इन इकाइयों संघ। धर्म, भाषा, परंपरा, विश्वास, रीतिरिवाज, प्राकृतिक परिवेश और लोक की भिन्नता के कारण ये राज्य एकसूत्र में पिरोए हुए होकर भी अलग अलग रंग वाले फूलों की तरह हैं। इस विविधता के कारण ही हर क्षेत्र की अलग पहचान है। जहाँ कहीं इस विविधता की उपेक्षा करके किसी बड़े क्षेत्र को एक इकाई कर दिया गया, वहाँ बाद में विघटन हुआ। और नए प्रांतों के रूप में नयी इकाइयाँ उभरीं (जैसे, तेलंगाना)। स्थानीय चुनाव मुख्यतः इन क्षेत्रीयताओं

और इनसे जुड़ी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति होते हैं। यदि ये आकांक्षाएँ लोकसभा चुनाव के नगाड़े की आवाज़ों तले दबेंगी, तो दूरगामी परिणाम लोकतंत्र की सेहत के लिए अच्छा नहीं होगा।

यह भी विचारणीय है कि कहीं खर्च घटाने के चक्कर में हम निरंकुश शासन की राह आसान नहीं कर देंगे ? अगर 5 साल में एक ही बार चुनाव होना है, तो उपचुनाव, मध्याविध चुनाव, या विधानसभा/ लोकसभा के बीच में भंग होने पर चुनाव संभव नहीं होंगे न?

इसलिए हुमारा कहना है कि, यदि नीति आयोग और भारत सरकार को यह लगता है कि 2024 से लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराना राष्ट्रीय हित में होगा, तो इस पर गंभीर विमर्श की आवश्यकता है। नीति आयोग ने कहा भी है कि विशेषज्ञों का एक समूह गठित हो, जो इस विषय पर सिफ़ारिशें दे। वैसे भी संविधान-संशोधन की जटिल प्रक्रिया से गुजरे बिना यह बदलाव संभव नहीं! *

(डेली हिंदी मिलाप, 13/06/2018)

किसने लगाई आग बादलों के घर में

"पानी लेने जा रही महिलाओं ने राह घेरते बसवाले को टोका और बात बढ़ गई। महिलाओं के रिश्तेदार आ गए और मारपीट हो गई। दोनों पक्ष थाने पहुँचे और पुलिस ने समझौता करा दिया। घायलों की मरहमपट्टी के लिए महिलाओं के पक्ष ने 4 हज़ार रुपए भर दिए और दोनों पक्ष अपने-अपने घर चले गए। "पर किस्सा खत्म नहीं हुआ। यह तो शुरूआत थी। व्हाट्सएप्प पर झूठी खबर तैरने लगी कि 2 बसवालों के सिर कलम कर दिए गए हैं। बस फिर क्या था! सैंकड़ों हथियारबंद ख़ासी लोग पंजाबी लेन की झुग्गी-झोंपड़ियों पर टूट पड़े और पहली जून की सुबह भारत के स्कॉटलैंड, बादलों के घर, मेघालय की राजधानी शिलांग में अशांति और हिंसा की खबर लेकर आई।

इस तरह एक बार फिर साबित हुआ कि सोशल मीडिया बेहद खतरनाक माध्यम बनता जा रहा है। समझा यह जाता था कि इससे सूचना-संप्रेषण के लोकतंत्र का सपना साकार होगा। लेकिन देखने में आ रहा है कि अफवाह फैलाने और अराजकता मचाने के लिए यह सबसे सहज उपलब्ध मंच है। इस मंच का दुरुपयोग करके किसने ज़रा से स्थानीय झगड़े को ख़ासी-पंजाबी संघर्ष का रूप दे दिया? इसकी आग पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों की तमाम कोशिशों के बावजूद अगर कई-कई दिन तक सुलगती रही, तो निश्चय ही सोशल मीडिया की एंटी-सोशल भूमिका को नज़र-अंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। साथ ही, मेघालय के मुख्यमंत्री कोनराड के संगमा के इस बयान पर भी ध्यान देना होगा कि यह हिंसा प्रायोजित थी और कि कुछ लोगों ने शराब और पैसे का लालच देकर लोगों को उकसाया था। हम कहना चाहते हैं कि मुख्यमंत्री जी इन प्रायोजकों की निशानदेही कराएँ और सार्वजनिक शांति-व्यवस्था भंग करने के अपराधियों को दंडित कराएँ।

एक बड़ा सवाल अभी बचा हुआ है। आखिर एक छोटी सी वारदात इतने बड़े संकट में बदली तो कैसे? कुछ तो और भी रहा होगा! इसके लिए थोड़ा पीछे जाना पड़ेगा। सन 1850 के आसपास जब अंग्रेजों ने पूर्वीत्तर में पाँव फैलाए, तो सफाई के काम के लिए वहाँ पंजाबी दिलतों को ला बसाया। स्थानीय राजा ने विधिवत उन्हें ज़मीन दे दी। तब से यह समुदाय वहीं रहता आया है। आज़ादी के बाद भी ये लोग खलासी आदि का काम करते आए हैं। सन 1972 में मेघालय राज्य का सृजन हुआ तो उस समय यहाँ की जनसंख्या बहुनस्लीय होने के कारण इसे कोस्मोपोलिटन प्रकृति का प्रदेश समझा जाता था। यहाँ की मुख्य आबादी ख़ासी, गारो और जयंतिया जैसी शांत-स्वभावी जनजातियाँ हैं। उन्हें भी राजनीति की हवा लग गई और 1979 व 1987 में यहाँ से क्रमशः बंगालियों और नेपालियों को बाहर निकालने के आंदोलन उठ खड़े हुए। हिंसा भइकी तो उनके अलावा मेहनत-मजूरी करके पेट पालने वाले बिहारी भी भयभीत होकर पलायन कर गए। पर पंजाबी दिलत अभी तक वहीं हैं। उन्हें भी काफी समय से बाहर जाने या कम से कम शिलांग के दूसरे हिस्से में पुनर्वास के लिए बाध्य किया जा रहा है। दरअसल पंजाबी लेन की वर्तमान स्थिति व्यावसायिक दृष्टि से बहुत संभावनापूर्ण है। इसलिए बहुत संभव है कि बाजारवादी ताक़तें भी मौका देखकर सक्रिय हो गई हों। सच का पता लगाया जाना चाहिए कि वे ताक़तें कौन सी हैं; पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों पर पत्थर बरसाने वालों के तार कहाँ-किससे जुड़े हैं?

यहाँ यह भी याद रखना होगा कि मेघालय विधानसभा के पिछले चुनावों में एंटी-पंजाबी-सेंटिमेंट का खूब दोहन किया गया था। ख़ासी-गारो-जयंतिया पीपुल फ़ेडरेशन तथा ख़ासी छात्रसंघ भी पंजाबी दिलतों की बेदखली की माँग करते रहे हैं। इसके लिए वे उन पर समाजविरोधी और आपराधिक कार्यों में लिप्त होने से लेकर नौकरियाँ हड़पने तक के आरोप लगाते हैं। वैसे आपको बता दें कि वहाँ 80 प्रतिशत नौकरियाँ जनजातियों के लिए ही आरक्षित हैं। इस सारे दृश्य को देखकर हमें तो यही लगता है कि मामला आर्थिक और राजनैतिक है। ऐसे में वहाँ की जनता को समझदारी दिखानी चाहिए और शांति व सद्भाव को बहाल करना चाहिए। अन्यथा, मेघालय की खूबसूरत वादियों में आने वाले पर्यटकों की संख्या इस सप्ताह में जिस तरह घटी है, उसमें भी भविष्य का कुछ तो संकेत छिपा है! 000

(डेली हिंदी मिलाप, 07/06/2018)

ज़रूरी है रोहिंग्याओं पर निगाह रखना

उम्मीद की जानी चाहिए कि कई वर्षों से भारत का सिरदर्द बनी रोहिंग्या समस्या के समाधान का रास्ता साफ हो सकेगा। भारत सरकार इस दिशा में बहुत सावधानी से कदम बढ़ा रही है। रोहिंग्याओं को खोजने और पहचानने में देरी और दिक्कत न हो, इस विचार से केंद्र ने राज्यों से अनुरोध किया है कि अवैध रूप से आ बसे रोहिंग्या शरणार्थियों की रिहाइश और गतिविधि को उनके लिए निर्धारित स्थानों तथा शिविरों तक सीमित रखा जाए।

बेशक, यह परिसीमन विभिन्न प्रांतों के जनसंख्या-वितरण की पारंपरिक प्रकृति की रक्षा की दृष्टि से भी ज़रूरी है क्योंकि कोई भी स्थानीय समाज अपने भौगोलिक-सांस्कृतिक चिरत्र से छेड़छाड़ पसंद नहीं करता। लेकिन वर्तमान संदर्भ में कूटनैतिक दृष्टि और आंतरिक सुरक्षा का पहलू अधिक महत्वपूर्ण है। इसीलिए उनकी तमाम निजी जानकारी और बायोमेट्रिक विवरण प्राप्त करना भी ज़रूरी है। समझा जाता है कि अत्याचार के डर से ये लोग म्यांमार वापस लौटना नहीं चाहते। भारत में बने रह सकें, इस उद्देश्य से ये हर तरह के दंद-फंद करके भारतीय पहचान प्राप्त करने के फिराक में रहते हैं। यों राज्य सरकारों से यह भी चौकसी रखने को कहा गया है कि ऐसे लोगों को आधार संख्या या अन्य कोई भारतीय पहचान न दी जाए। उनका सारा विवरण तैयार रहना चाहिए तािक उनकी म्यांमार वापसी के समय कोई अडचन न आए। भारत के लिए तो वे सर्वथा अवांछित बोझ हैं न!

यात्रा-दस्तावेज़ों के बिना, अवैध तरीके से भारत में घुसे रोहिंग्याओं के बारे में प्रामाणिक आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। फिर भी समझा जाता है कि भारत में इस समय 40 हज़ार से अधिक अवैध रोहिंग्या अप्रवासी हैं। ये मुख्य रूप से जम्मू और कश्मीर, उत्तर प्रदेश, तेलंगाना, पंजाब, हिरयाणा, दिल्ली और राजस्थान में रह रहे हैं। जम्मू और कश्मीर के बाद इनकी सबसे बड़ी तादाद तेलंगाना में आ बसी है। अब इस तरह की खबरें भी आ रही हैं कि ये आगे केरल, कर्नाटक और तिमलनाड़ में भी घुसने के मंसूबे बना रहे हैं और अंडमान और निकोबार तक नई खेप में पहुँच रहे हैं। भारत का इस तमाम घटनाचक्र पर चिंतित होना वाजिब है। इसीलिए सरकार चाहती है कि इन अवैध अप्रवासियों पर कड़ी निगरानी रखी जाए ताकि वे अपने शिविरों की सीमा लाँघकर इस महादेश में कहीं गुम न हो जाएँ। चिंता का बड़ा कारण आंतरिक सुरक्षा के लिए संभावित खतरे से जुड़ा है क्योंकि इनके रिश्ते माओवादियों और आतंकियों से होने की पूरी संभावना है। कट्टरवादी और आपराधिक तत्वों की उपस्थिति को भी नकारा नहीं जा सकता। राष्ट्रीय सुरक्षा के मूल्य पर शरणागत-वत्सलता निभाने के जमाने लद गए! आपको बता दें कि संयुक्त राष्ट्र के अनुसार, रोहिंग्या मुसलमान दुनिया के सबसे उत्पीड़ित अल्पसंख्यक समूहों में से एक है। पता नहीं क्यों किसी भी मुस्लिम राष्ट्र का इस्लामिक ब्रदरहुड का जज़बा इन लाचार भाइयों के लिए कभी ज़ोर नहीं मारता? दूसरी ओर, भारत का उच्चतम न्यायालय अवैध और अवांछित होने पर भी इन्हें बाहर धकेलने की इजाज़त नहीं देता।

आइए, तिनक यह भी जानें कि आखिर ये लोग कौन हैं और क्यों मारे-मारे फिर रहे हैं। दरअसल रोहिंग्या उन राज्य-विहीन मुसलमानों को कहा जाता है जो म्यांमार देश के रखाइन राज्य और बांग्लादेश के चटगाँव इलाक़े में बसे हुए थे। ये लोग 1400 ई. के आसपास बर्मा (म्यांमार) के ऐतिहासिक प्रांत अराकान(रखाइन राज्य) में आकर बस गए थे। प्रायः ये अराकान के बौद्ध राजा नारामीखला (मिन सा मुन) के राजदरबार में नौकरी करते थे।रखाइन राज्य पर बर्मी क़ब्ज़े के बाद अत्याचार से तंग आकर बड़ी संख्या में रोहिंग्या लोग थाईलैंड में शरणार्थी हो गए क्योंकि बर्मा के बौद्ध लोग और वहाँ की सरकार इन लोगों को अपना नागरिक नहीं मानते।म्यांमार राष्ट्रीयता क़ानून-1982 के तहत रोहिंग्या लोगों के लिए म्यांमार की नागरिकता पर प्रतिबंध लागू है।2016-17 तक म्यांमार में क़रीब 8 लाख रोहिंग्या लोग रहते थे। इन्हेंवहाँ बहुत अत्याचार का सामना करना पड़ा। यही कारण है कि बड़ी संख्या में रोहिंग्या बांग्लादेश और थाईलैंड की सीमाओं पर स्थित शरणार्थी कैंपों में अमानवीय हालात में रह रहे हैं और भारत में भी घ्स आए हैं। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 06/06/2018)

जाद् वाले दिन चले गए?

लोकसभा की चार और विधानसभाओं की दस सीटों के नतीजे निकलते ही हर कोई यह सवाल कर रहा है कि, प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के मैजिक का क्या हुआ; अमित शाह से लेकर योगी आदित्यनाथ तक की मोहक और मारक बाँसुरी का पहले सा असर कहाँ गया? सवाल तो बनता है। खुद भाजपा का भी अपने आप से पूछना बनता है। पहले 2014 में देशभर में और बाद में अन्य कई प्रांतों के अलावा उत्तर प्रदेश में जो अभूतपूर्व विजय भाजपा को प्राप्त हुई थी, उसके दिग्विजयी अश्व को पहले गोरखपुर और फूलपुर में सिंहद्वार से लौटना पड़ा तो अब एक बार फिर नूरपुर और कैराना में उसके मुँह में झाग आ गए हैं।

उत्तर प्रदेश की विधानसभा सीट पहले भाजपा के पास थी। समाजवादी पार्टी ने छीन ली। वहाँ नईम उल हसन जीत गए तो कैराना की लोकसभा सीट भी भाजपा से छिटक कर राष्ट्रीय लोकदल की तबस्सुम हसन की गोद में चली गई। अगर अब लोग यह कयास लगाने में जुटे हैं कि 2019 के लोकसभा चुनाव में भाजपा ध्वस्त हो जाएगी, तो उनका यह सोचना स्वाभाविक है। लेकिन दूसरा पहलू यह भी है कि, उपचुनाव वाली वर्तमान मनोदशा क्या तब तक टिकी रह सकेगी?

आइए, तिनक विचारें कि यह दृश्य-परिवर्तन आखिर घटित कैसे हुआ। उत्तर स्पष्ट है कि भाजपा की अबाध विजय-यात्रा को देखकर विपक्षी दलों की समझ में यह तो बहुत पहले आ गया था कि मोदी के जादू को वे अलग-अलग रहकर कभी भी काट नहीं सकते। जिस प्रकार किसी भी वाद का प्रतिवाद उसकी अपनी उपज होता है, उसी प्रकार मोदी-इफेक्ट ही स्वयं उस महागठबंधन की राजनीति का मूल कारण है जिसके सहारे विपक्ष 2019 की फतह ख्वाब सजा रहा है। सब क्षत्रपों की समझ में यह बात आ गई है कि मोदी के जादू का सामना करने के लिए महागठबंधन के अलावा कोई और कवच-कुंडल उनके पास नहीं है। इस समझ के आधार पर एकजुट होकर विपक्ष अलग-अलग मोचों पर उपचुनाव तो जीत सकता है, लेकिन यह फार्मूला लोकसभा के आम चुनाव में कितना कारगर होगा - कहा नहीं जा सकता। यहाँ ठहरकर ज़रा पीछे की ओर देखें तो 1977 का दृश्य याद आएगा। उस समय तमाम विपक्ष ने एकजुट होकर प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी की सत्ता को चुनाव के मैदान में अभूतपूर्व पटखनी दी थी। उस समय विपक्ष के गठबंधन का आधार 'आपात काल' में निहित था। जैसा कि पूर्व प्रधानमंत्री इंद्रकुमार गुजराल ने एक स्थान पर लिखा है, आपात काल में कांग्रेस ने अपने तमाम विरोधियों को एक ही रस्से में बाँध दिया था। अगर आपात काल में कांग्रेस ने यह रवैया न अपनाया होता तो गठबंधन की राजनीति का जन्म ही न हुआ होता। कांग्रेस ने न सिर्फ सबको इकट्ठा कर दिया, बल्कि सबको एक करके एक सैद्धांतिक आधार दे दिया। बाद के वर्षों में गठबंधन की राजनीति को जहाँ एक ओर क्षेत्रीय असमानता से बढ़ावा मिला, वहीं मंडल कमीशन की रिपोर्ट ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आज गोरखपुर से कैराना तक जिस महागठ्बंधन का उभार दिखाई दे रहा है, उसके मूल में विपक्षी दलों की अपनी-अपनी हार की पीड़ा अवश्य है और वे सब इसका बदला भी अपने साझे शत्रु से लेना चाहते हैं। लेकिन क्या यह पीड़ा आपात काल जैसी तीव्र है? क्या इस एकजुटता का तात्कालिक रणनीति के अलावा कोई सैद्धांतिक आधार है? शायद नहीं! तब कैसे मान लिया जाए कि उपचुनाव का यह जोश आम चुनाव तक बरकरार रहेगा?

इसलिए हम कहना यह चाहते हैं कि कैराना के उपचुनाव को मोदी सरकार का एसिड टैस्ट या लिटमस टैस्ट मानकर 2019 के लिए भविष्यवाणी करना जल्दबाज़ी होगा। हाँ, स्वयं भाजपा और एनडीए को इसे कसौटी मानकर अपनी चुनावी रणनीति पर पुनर्विचार अवश्य करना चाहिए। 000

(डेली हिंदी मिलाप, 02/06/2018)